द्वैमासिक
जुलाई – अगस्त 2022
● 30 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

● फ़ासीवादी साम्प्रदायिक उन्माद और आत्महत्या करते बेरोज़गार छात्र-युवा
● एनसीईआरटी के पाठ्यक्रम बदलाव: इतिहास को विकृत करने का फ़ासीवादी एजेण्डा
● बुल्डोजर संस्कृति: फ़ासीवादी दमन का नया औज़ार
● 'पुष्पा', 'केजीएफ़'... उन्हें बंजर सपने बेचो! ● अग्निपथ: ठेके पर "राष्ट्र-सेवा" की योजना
● रूस-यूक्रेन युद्ध: बदलते साम्राज्यवादी समीकरण
● जीवन का उद्भव और उद्विकास को समझने की ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रस्तावना
● नयी शिक्षा नीति के अमल का असर: विश्वविद्यालयों में बढ़ती फ़ीस

अलगाव

पतझड़ की
दोपहर

चिनार का
पत्ता
आहिस्ता से
अलग होकर
गिरता है

अपनी ही
परछाईं पर

-अब्बास कियारोस्तमी
(अनुवाद: असद ज़ैदी)

आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ **'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ क़ायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी क़ायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमन्त्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में क़ैद; नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।**

➢ **'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।**

इस अंक में

अपनी ओर से

फ़ासीवादी साम्प्रदायिक उन्माद और आत्महत्या करते बेरोज़गार छात्र-युवा 3

शिक्षा जगत

विश्वविद्यालयों में बढ़ती फ़ीस 48

सामयिकी

अग्निपथ: ठेके पर "राष्ट्र सेवा" की योजना 8

आईआईटी खड़गपुर का कैलेण्डर: फ़ासीवादी प्रॉपेगैण्डा का एक औज़ार 10

आईपीएल, खेल की राजनीति और सट्टेबाज़ी 24

आईआईटी कानपुर का सर्टिफ़िकेट भी योगी सरकार के कोरोना कुप्रबन्धन को छुपा नहीं सकता 26

बुलडोज़र संस्कृति: फ़ासीवादी दमन का नया औज़ार 33

हरियाणा के निजी क्षेत्र के रोज़गार में 75 प्रतिशत स्थानीय आरक्षण के मायने 44

जनता का जीवन रसातल में तो चुनावबाज़ पार्टियों की सम्पत्तियाँ शिखरों पर क्यों? 46

सामाजिक कार्यकर्ताओं को जेल और अपराधियों को क्लीनचिट 51

विज्ञान

जीवन का उद्भव और उद्विकास को समझने की ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रस्तावना 18

विश्व पटल

एमसीसी: नेपाल में चीन के प्रभाव को प्रतिसन्तुलित करने वाली अमेरिकी साम्राज्यवादी परियोजना 16

श्रीलंकाई संकट: आम आबादी पर टूटता पूँजीवादी नीतियों का कहर 38

रूस-यूक्रेन युद्ध : बदलते साम्राज्यवादी समीकरण 42

विशेष सामग्री

मानव समाज की उन्नति में जब विज्ञान और प्रौद्योगिकी आम जनता के हथियार बने 28

टेक्सास एलिमेण्ट्री स्कूल 'मास शूटिंग' के बहाने कुछ बुनियादी सवाल 35

फ़िल्म समीक्षा

'पुष्पा', 'केजीएफ़'… उन्हें बंजर सपने बेचो! 13

स्मृति शेष

जनपक्षधर नाट्यकर्मी कुँवरजी को अलविदा! 52

गतिविधियाँ 54

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

वर्षः 15 अंकः 1

जुलाई-अगस्त, 2022

सम्पादक
प्रसेन
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य: **30 रुपये**
वार्षिक सदस्यता: **160 रुपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **320 रुपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **750 रुपये**
आजीवन सदस्यता: **2,000 रुपये**

सम्पादकीय कार्यालय: बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन: 08858288593

ईमेलः ahwan.editor@gmail.com वेबसाइटः ahwanmag.com फ़ेसबुकः facebook.com/muktikamiahwan

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश : • जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8) • अमित, रूम नं. 138, बिरला सी छात्रावास, बीएचयू, वाराणसी • • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू, वाराणसी • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, निकट एलनगंज चौराहा, इलाहाबाद, 9559925682, • ज्ञानभारती, साइंस फैकल्टी के सामने, कटरा, इलाहाबाद • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, सिंघलपट्टी, अम्बेडकरनगर • करण, एस14, श्री जी रेज़ीडेंसी, मथुरा - 281001, 7037189590 • सुरेश, चित्रकूट, फ़ोन:9794625522 • रमेश, गाज़ीपुर, फ़ोन: 9793567003

दिल्ली : • योगेश, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनॉट प्लेस • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस • लता, जे.एन.यू., फ़ोन: 8800105101

बिहार : • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, गोसाईं टोला, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013 • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो- करनौल, ज़िला मुजफ्फरपुर • डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, शब्दसदन, सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच. 3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, ज़िला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग़, पटना • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर (बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, वाया इस्लामपुर, नालन्दा

राजस्थान : • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर

हरियाणा : • रमेश खटकड़, हरि नगर, गली नंबर 3, नरवाना, ज़िला-जीन्द • हैप्पी बुक डिपो, स्टूडेण्ट एक्टिविटी सेण्टर, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यायल, रोहतक • अजय, जींद, फ़ोन: 8685030984 • इन्द्रजीत, रोहतक, फ़ोन: 8010156365 • शाम मूर्ति, गुड़गाँव, फ़ोन: 8397861640

पंजाब : • अवतार सिंह, मकान नं. 19041, गली नं. 14, बीबी वाला रोड, बठिण्डा, 151001, फ़ोन: 9501070001 • इनजिन्दर सिंह, शिवम कालोनी, गली नं. 5, संगरूर, फ़ोन: 9888080820 • दीपक शर्मा, मकान नं. 30, गुरुद्वारा खुही-सर, गली नं. 3, सतजोत नगर, ढांढरा रोड, लुधियाना-141116 • प्रभदीप, लुधियाना, फ़ोन: 9888808876 • शुभम, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़, फ़ोन: 8196803093

हिमाचल प्रदेश : • वृषाली द्वारा चेतन गुप्ता, जनरल मर्चेंट एंड ट्रांसपोर्ट एजेंट, टुटू, शिमला-171011, फ़ोन: 9582712837 • सुरेश सेन निशान्त, गाँव सलाह, डाक- सुन्दरनगर-1, ज़िला-मण्डी • जय प्रकाश, दिग्विजय अपार्टमेंट्स, विजय नगर, टूटू (शिव मन्दिर के पास), शिमला

महाराष्ट्र : • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, कमरा नं. 209, हीरानन्दानी बिल्डिंग, बिल्डिंग नं. 7बी, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, मानखुर्द, मुम्बई (पश्चिम), 400043, फो. 08826265960 • गोपाल नायडू, कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्ठी, अजनी रोड, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, पंचशील विद्यामन्दिर, शाळेसमोर, बौद्धवस्ती, सिद्धार्थनगर, अहमदनगर, महाराष्ट्र • अभिजीत, 6, गुलमोहर, समर्थ सोसाइटी, वारजे, पुणे -58

मध्यप्रदेश : • संजय बुक स्टॉल, शाप नं- 43, ग्वालियर

उत्तराखण्ड : • अपूर्व, (देहरादून), फ़ोन: 7042740669 • वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, ज़िला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल, द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नज़दीक उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • बुक वर्ल्ड, 10- ए, एस्ले हाल, देहरादून

जम्मू : • श्री पुरुषोत्तम, लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

छत्तीसगढ़ : • शेख अंसार, रायपुर व राजनांदगाँव, फ़ोन: 9993233537 • जैनेन्द्र ठाकुर, रायपुर, फ़ोन: 9009755117 • श्री देवांशु पाल, सं. 'पाठ', गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, बिलासपुर

केरल : • राजीव साची, फ्लैट नं. डी4, गैलेक्सी लक्ज़र, सेंट सेबस्टियन रोड, पोन्नूरन्नी, वायटिला, कोच्चि-19

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का 'आह्वान' के नये-पुराने अंक तथा आह्वान पुस्तिकाएँ आप निम्नलिखित वेबसाइट से भी प्राप्त कर सकते हैं : www.ahwanmag.com, इसके अलावा आप आह्वान के लेख व्हाट्सऐप पर भी पा सकते हैं। इसके लिए आपको 9892808704 (सत्यनारायण) फ़ोन नम्बर अपनी फ़ोन सूची में जोड़कर व्हाट्सऐप से इस पर मैसेज भेजना होगा। विभिन्न विषयों पर 'आह्वान' की ओर से प्रस्तुत सामग्री के लिए हमारा फ़ेसबुक पेज भी फ़ॉलो करें: @muktikamiahwan

अपनी ओर से

फ़ासीवादी साम्प्रदायिक उन्माद और आत्महत्या करते बेरोज़गार छात्र-युवा

साथियो! वर्तमान समय में पूरे देश में साम्प्रदायिक उन्माद की आँधी चल रही है। अभी हाल ही में विक्रम संवत नववर्ष से लेकर रामनवमी व नवरात्र के दौरान देशभर में मस्जिदों पर भगवा झण्डा फहराने, भड़काऊ भाषण देने, मुसलमान महिलाओं को बलात्कार की धमकी देने और मुसलमानों पर हमले की घटनाएँ हुईं। अजान के बहाने साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति लाउडस्पीकर पर हनुमान चालीसा पढ़ने या बजाने के रूप में सामने आई। अब कुतुबमीनार, ज्ञानवापी जैसी ऐतिहासिक धरोहरों में मन्दिर की तलाश चल रही है। पैगम्बर मुहम्मद पर भाजपाई नेता नुपूर शर्मा की घटिया टिप्पणी और उदयपुर की घटना के बाद साम्प्रदायिक उन्माद की एक नयी लहर पैदा हुई है। न्यूज़ चैनलों पर साम्प्रदायिक ख़बरों की बाढ़ आयी हुई है। बहुत से छात्र-युवा भी इस साम्प्रदायिक उन्माद की आँधी में बह गये हैं, कुछ तटस्थ हैं क्योंकि उनको अपने ऊपर कोई आँच नहीं दिखती, जबकि कम ही सही लेकिन इंसाफ़पसन्द, प्रगतिशील छात्र-युवा इस उन्माद का डटकर प्रतिरोध कर रहे हैं।

लेकिन इस साम्प्रदायिक उन्माद के शोर में जनता के ऊपर हो रही बहुत सारी तकलीफ़ों की बारिश की तरह बेरोज़गारी की भयानक मार सहते हुए निराश, अवसादग्रस्त छात्रों-युवाओं की रिकॉर्डतोड़ आत्महत्याएँ और उनके परिवार की चीख़ें दब गयीं। मौजूदा व्यवस्था और उसके रहनुमाओं की नीतियों से निकलने वाला बेरोज़गारी का बुलडोज़र आम घरों के बेटे-बेटियों के भविष्य और सपनों को रौंदता हुआ दौड़ रहा है, चाहे वो जिस मज़हब और जाति के हों! अभी हाल ही में मोदी सरकार ने अग्निपथ योजना के ज़रिये बहुत से छात्रों-युवाओं की उम्मीदों पर बुलडोज़र चढ़ा दिया है और आगे अन्य विभागों में भी छात्रों-युवाओं की उम्मीदों पर बुलडोज़र चढ़ना तय है।

यूँ तो साम्प्रदायिक उन्माद की भेंट भी आम घरों के बेटे-बेटियाँ ही चढ़ते हैं और उनकी लाशों पर चढ़कर चुनावी मदारी वोट बटोरते हैं तथा मुट्ठी भर लुटेरों की लूट का रास्ता सुगम करते हैं। लेकिन सोचने की बात यह है कि देश के हर मज़हब, जाति, क्षेत्र आदि के आम घरों के बेटे-बेटियाँ जब बेरोज़गारी की भयानक मार झेल रहे हैं, आत्महत्या करने को मजबूर हो रहे हैं तो आख़िर बेरोज़गारी का सवाल देशव्यापी मुद्दा क्यों नहीं बन पा रहा है? कि क्या बढ़ती बेरोज़गारी और बढ़ते साम्प्रदायिक उन्माद में कोई रिश्ता है? कि साम्प्रदायिक उन्माद में बहने या तटस्थ रहने वाले छात्र-युवा जिस साम्प्रदायिक फ़ासीवादी पार्टी का झण्डा थामे हैं या उसके मूक समर्थक हैं, उनकी नीतियों के बुलडोज़र से क्या उनका भविष्य सही-सलामत है?

छात्रों-युवाओं की आत्महत्या, अवसादग्रस्तता और बेरोज़गारी की वर्तमान स्थिति

बेरोज़गारी से होने वाली मौतों का जो भी आँकड़ा मिल पा रहा है, उससे बहुत भयानक स्थिति का पता चलता है। अगर प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के बड़े केन्द्रों जैसे इलाहाबाद, पटना, कोटा, जयपुर, दिल्ली आदि की बात की जाये तो यहाँ पर बेरोज़गारी के संकट से पीले पड़ चुके, बीमार, निराश छात्रों-युवाओं की एक बहुत लम्बी कतार है। आये दिन इन शहरों के लॉजों-हॉस्टलों के कमरों में पंखे से लटकी हुई छात्रों-युवाओं की लाशें मिलती हैं। एनसीआरबी के आँकड़ों के मुताबिक़ 2019 की तुलना में 2020 में 18-45 साल की उम्र के युवाओं की आत्महत्या में 33 फ़ीसदी का

इजाफ़ा हुआ है, जो कि 2018 से 2019 के बीच 4 फ़ीसदी था। इस साल केवल अप्रैल के महीने में इलाहाबाद शहर में लगभग 35 छात्रों ने आत्महत्या कर ली। देश के छात्रों-युवाओं की बड़ी संख्या बेरोज़गारी के चलते भयानक हताशा-निराशा, अवसाद की शिकार है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक़ भारत में हर 4 में से 1 युवा अवसाद का शिकार है।

पूरे देश में रोज़गार का भयंकर अकाल पड़ा हुआ है। सीएमआईई के हालिया आँकड़े बताते हैं कि भारत में रोज़गार मिलने की दर कोरोना की दो लहरों के बाद पूरी दुनिया के देशों की तुलना में बहुत कम है। भारत में सिर्फ़ 38 फ़ीसदी लोगों को ही रोज़गार मिल रहा है। हर साल 2 करोड़ नौकरी देने का झाँसा देकर सत्ता में आयी भाजपा सरकार के मौजूदा पाँच साल के कार्यकाल में 2 करोड़ 10 लाख नौकरियाँ घटी हैं। 2017-2022 के बीच मोदी के "रामराज्य" में कामगारों की संख्या 46 फ़ीसदी से घटकर 40 फ़ीसदी पर आ गयी है। अक्सर आँकड़ो की धाँधलेबाज़ी कर भाजपा ईपीएफ़ओ (कर्मचारी भविष्य निधि संगठन), ईएसआईसी (कर्मचारी राज्य बीमा निगम) और एनपीएस (नयी पेंशन योजना) से जुड़ने वाले सदस्यों की संख्या को पैदा होने वाले रोज़गार की संख्या बता देती है और इस प्रक्रिया में बहुत चालाकी से ईपीएफ़ओ, ईएसआईसी और एनपीएस से बाहर होने वाले लोगों की संख्या को छुपा देती है। फ़रवरी-2022 में ईपीएफ़ओ से जुड़ने वाले नये सदस्यों की संख्या जहाँ 8.48 लाख रही, जबकि 9.35 लाख लोग इससे बाहर हो गये। इसी तरह से ईएसआईसी और एनपीएस के तहत जुड़ने वाले नये सदस्यों की संख्या में क्रमशः 3.3 और 0.59 फ़ीसदी की कमी आयी है। 1990-91 की निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से ही श्रमबल में महिलाओं की भागीदारी में जारी गिरावट अब भयंकर स्तर पर पहुँच चुकी है। सीएमआईई के हालिया आँकड़ों के मुताबिक़ योग्यता के बावजूद सिर्फ़ 9 फ़ीसदी महिलाओं के पास या तो काम है या काम की तलाश जारी रखे हुए हैं। विश्व बैंक द्वारा जारी एक आँकड़े के मुताबिक़ भारत में महिला श्रमबल की भागीदारी जून-2020 में 20.3 फ़ीसदी थी। ग़ौरतलब है कि यह आँकड़ा 1990 में 30.3 फ़ीसदी था। बेरोज़गारी का आलम यह है कि काम करने योग्य कुल आबादी में से 45 करोड़ से ज़्यादा लोग अब काम की तलाश भी छोड़ चुके हैं। सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम (एमएसएमई) के जॉब पोर्टल पर नौकरी चाहने वालों की संख्या में 86 फ़ीसदी की कमी आयी है, वहीं पदों की संख्या में 71 फ़ीसदी की कमी आयी है। पिछले दिनों एमएसएमई के टूल रूम्स और तकनीकी संस्थानों से 4,77,083 युवा पास होकर निकले हैं लेकिन पोर्टल पर केवल 133 रिक्तियाँ उपलब्ध हैं।

औद्योगिक नौकरियों में मार्च 2022 में 76 लाख की कमी आयी है। मैन्युफैक्चरिंग सेक्टर में 41 लाख नौकरियाँ, निर्माण क्षेत्र में 29 लाख नौकरियाँ, खानों-खदानों में 11 लाख नौकरियाँ कम हुई हैं। कृषि क्षेत्र में भी रोज़गार की स्थिति बहुत बुरी है। स्टेटिस्टा द्वारा दिये गये आँकड़ों के अनुसार, भारत में साल 2009 से 2019 तक आर्थिक क्षेत्रों में कार्यबल का वितरण देखने से साफ़ पता चलता है कि इन 10 सालों में कृषि क्षेत्र में कार्यबल 52.5 से घटकर 42.6 प्रतिशत रह गया था। कृषि के क्षेत्र में प्रच्छन्न बेरोज़गारी की स्थिति सबसे भयानक है जहाँ एक सर्वे के मुताबिक़ कृषि कार्यो में लगी आधी से ज़्यादा आबादी आज प्रच्छन्न बेरोज़गारी की मार झेल रही है।

बेरोज़गारी का कारण मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था है!

बेरोज़गारी पूँजीवादी व्यवस्था की आन्तरिक गति से पैदा होती है। इसलिए बेरोज़गारी अन्ततः पूँजीवादी व्यवस्था के ख़त्म होने के साथ ही ख़त्म हो सकती है। वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था में उद्योग का सेक्टर हो या फिर कृषि का, सभी जगह मुट्ठी भर पूँजीपतियों का नियन्त्रण होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के सभी साधन पूँजीपतियों के हाथ में होते हैं। पूँजीपति वर्ग उत्पादन की प्रक्रिया में केवल और केवल मुनाफ़े के लिए सक्रिय रहता है। पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए जहाँ एक ओर कच्चे माल और मशीनों या नयी तकनीक पर निवेश बढ़ाता रहता है, वहीं दूसरी तरफ़ दीर्घकाल में श्रमशक्ति के सन्दर्भ में निवेश को सापेक्षिक तौर पर घटाने की प्रवृत्ति होती है।। चूंकि नया मूल्य कच्चा माल और मशीनें नहीं बल्कि श्रमशक्ति ही पैदा कर सकती है, इसलिए श्रमशक्ति के सन्दर्भ में निवेश घटाने की प्रवृत्ति दीर्घकाल में मुनाफ़े की औसत दर में गिरावट के नतीज़े के रूप में सामने आती है। पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की दर में कमी का संकट अपने लक्षण के तौर पर अल्पउपभोग की परिघटना को भी जन्म देता है और सामान्य अति उत्पादन की परिघटना को भी। पूँजीवादी उत्पादन के फैलाव के साथ बड़ी संख्या में छोटे माल उत्पादक और छोटे पूँजीपति दिवालिया हो जाते हैं और अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए मजबूर हो जाते हैं। छोटे व्यापारी, छोटे दुकानदार आदि को पूँजी लगातार उजाड़ती रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों में पूँजीवाद का विकास बड़ी संख्या में किसानों को भी कंगाल बना देता है, जो आजीविका कमाने के लिए शहरों में उमड़ पड़ते हैं। इन सब कारणों से श्रमशक्ति की आपूर्ति बढ़ती रहती है। तेज़ी के दौर में, यानी पूँजी निवेश और पूँजी संचय के बढ़ने के दौर में आम तौर पर श्रमशक्ति की आपूर्ति में बढ़ोत्तरी को नया पूँजी निवेश यानी विस्तारित पुनरुत्पादन आंशिक या पूर्ण रूप से सोख सकता है, लेकिन ठहराव या संकट के दौर में, श्रमिकों की यह आरक्षित सेना बढ़ती जाती है। यह एक ओर बेरोज़गारी को बढ़ाती है, तो वहीं दूसरी ओर रोज़गारशुदा श्रमिकों की औसत मज़दूरी को घटाती है। मौजूदा समय में निजी मुनाफ़े पर केन्द्रित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक दीर्घकालिक संकट का शिकार है और इस दौर में बेरोज़गारी की परिघटना भी अभूतपूर्व

रूप से सामने आ रही है। लेकिन तेज़ी के दौर में भी पूँजीवाद को बेरोज़गारों की एक रिज़र्व फौज़ चाहिए होती है, क्योंकि यह एक ओर मज़दूरों की मोलभाव की क्षमता को नियन्त्रित करने का काम करती है, वहीं पूँजी निवेश के विस्तार के लिए श्रमशक्ति की भावी आपूर्ति को भी सुनिश्चित करती है।

वर्तमान वैश्विक आर्थिक संकट के दौर में भारत सहित दुनिया के किसी भी देश के पूँजीपति वर्ग के लिए मुनाफ़े की औसत दर में कमी को रोक पाना सम्भव नहीं रह गया है। मुनाफ़े की औसत दर में कमी से बिलबिलाया पूँजीपति वर्ग येन-केन-प्रकारेण अपने मुनाफ़े की दर को बरकरार रखने के लिए सरकार पर दबाव बनाता है। अब चूँकि किसी भी पूँजीवादी देश में सरकार पूँजीपतियों की प्रबन्धक कमेटी के रूप में ही काम करती है, इसलिए वर्तमान समय में सभी पूँजीवादी देशों की सरकारें यह काम जनता को मिलने वाली बुनियादी सुविधाओं (जो भी कमोबेश उसे हासिल थीं) में कटौती कर, बेल आउट पैकेज, सस्ती दर पर कर्ज़ मुहैया कर या उनके कर्ज़ों को बट्टे खाते में डालकर या जनता के ख़ून-पसीने से खड़े सरकारी संस्थानों को पूँजीपतियों को औने-पौने दामों में बेच कर, मज़दूरों के पक्ष में बने थोड़े-बहुत श्रम क़ानूनों को भी ख़त्म करके कर रही है।

हमारे देश में आज़ादी के बाद पूँजीपति वर्ग ने पूँजीवादी विकास का एक विशिष्ट पथ अपनाया। इस पूँजीवादी मॉडल को पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का नाम दिया गया। इस पूँजीवादी मॉडल को 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का नाम इसलिए दिया गया क्योंकि पूँजीपति वर्ग की आर्थिक क्षमता कम होने के चलते तुरन्त मुनाफ़ा न देने वाले आधारभूत ढाँचे और बड़े उद्योगों के निर्माण व संचालन को सरकार ने अपने हाथ में रखा, जबकि तुरन्त मुनाफ़ा देने वाले कम लागत वाले उद्योगों को निजी हाथ में। लेकिन जैसे-जैसे पूँजीपति वर्ग की आर्थिक क्षमता बढ़ी वैसे-वैसे पूँजीपति वर्ग ने सरकारी संस्थानों को निजी हाथों में बेचने के लिए सरकार पर दबाव बनाना शुरू किया। इसका नतीज़ा अन्ततः 1990-91 में आर्थिक उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के रूप में सामने आया। जिस पूँजीवादी पार्टी कांग्रेस ने पूँजीपति वर्ग की ज़रूरतों के मद्देनज़र सार्वजनिक क्षेत्र का ढाँचा खड़ा किया था उसी कांग्रेस ने पूँजीपति वर्ग की बदलती ज़रूरतों के मुताबिक़ सार्वजनिक क्षेत्रों को निजी हाथों में सौंपने की भी शुरुआत की। लेकिन उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को लागू करने और उसके परिणामों से निपटने के लिए पूँजीपति वर्ग को एक ऐसी सरकार की ज़रूरत थी जो कठोरता से इन नीतियों को लागू करे, जन प्रतिरोध का दमन करे और लोगों को एकजुट होने से रोकने के लिए साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण कर सके। कांग्रेस पूँजीपति वर्ग के पक्ष में जन प्रतिरोध का दमन तो शुरू से ही कर रही थी, मन्दिर का ताला खोलकर सॉफ़्ट केसरिया नीति भी अपनायी। लेकिन लम्बे समय से शासन कर रही कांग्रेस के ख़िलाफ़ जन असन्तोष और सुस्पष्ट फ़ासीवादी विचारधारा तथा कैडर आधारित ढाँचा न होने के चलते कांग्रेस नयी आर्थिक नीतियों के परिणामों से पूँजीवादी दायरे में निपटने में सक्षम नहीं थी। नतीजा 1925 से ही भारतीय राजनीति में मौजूद संघ परिवार और उसकी राजनीतिक शाखा भाजपा (पहले जनसंघ) 1990-91 के दौर की बदली हुई परिस्थितियों में पूँजीपति वर्ग की पहली प्राथमिकता बनने लगी। लोगों की बढ़ती समस्याओं, पूँजी के गहराते संकट के दौर में राम मन्दिर आन्दोलन और गुजरात दंगे के रूप में संघ परिवार और भाजपा अपनी राजनीतिक उपयोगिता को साबित कर चुकी थी। आर्थिक उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद बढ़ती बेरोज़गारी-मँहगाई-भुखमरी से त्रस्त जनता के असन्तोष और आर्थिक संकट से निपटने के लिए पूँजीपति वर्ग ने मोदी की छवि गढ़ने, भाजपा को सत्ता तक पहुँचाने के लिए अपनी तिजोरी का मुँह खोल दिया। जिसका नतीजा हमारे सामने है। वर्तमान समय में पूरा देश फ़ासीवाद के शिकंजे में जकड़ा हुआ है।

साम्प्रदायिक उन्माद की राजनीति बेरोज़गारी, मँहगाई, भुखमरी से ध्यान हटाने का हथकण्डा है!

मोदी के नेतृत्व में फ़ासीवादी भाजपा के सत्तारोहण के बाद पूँजीपतियों की ज़रूरतों को पूरी करने में भाजपा ने कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। फ़ासीवादी मोदी सरकार के नेतृत्व में पूँजीवाद का बुलडोज़र आज देश के हर कोने में, हर क्षेत्र में आम मेहनतकश आबादी को रौंद रहा है। सरकारी संस्थानों के निजीकरण के चलते सरकारी नौकरियों में बहुत कमी आ चुकी है। अगर पहले 'एक अनार सौ बीमार' की कहावत लागू होती थी तो आज हालत है 'एक अनार एक हज़ार बीमार'! शिक्षा के क्षेत्र में नयी शिक्षा नीति-2020 से छात्रों-युवाओं की स्थिति और बदतर होगी। संक्षेप में, नयी शिक्षा नीति शिक्षा को पूरी तरह देशी-विदेशी लुटेरों की लूट के अड्डे में बदलने और शिक्षा व्यवस्था के भगवाकरण की नीति है। इसके अमल के बाद आम घरों के बेटे-बेटियों के लिए उच्च शिक्षा और भी दूर की कौड़ी बन जायेगी। सरकारी संस्थानों के अलावा प्राइवेट सेक्टर में भी नौकरियाँ बहुत कम हुई हैं; दूसरे, प्राइवेट सेक्टर में बहुत कम वेतन-ज़्यादा काम और सामाजिक सुरक्षा न होने के चलते हालत बहुत ख़राब है। पूँजीपतियों को मज़दूरों के मेहनत की अन्धाधुन्ध लूट की छूट के लिए पुराने श्रम क़ानूनों को चार लेबर कोड में बदल दिया गया है। कृषि क्षेत्र में पूँजीवादी विकास का नतीजा गाँवों में एक विशाल ग्रामीण मज़दूर वर्ग की उपस्थिति और रोज़ी-रोटी की तलाश में बड़ी संख्या में शहरों की तरफ़ पलायन है। ग्रामीण मज़दूर और छोटे-सीमान्त किसानों की स्थिति बहुत ख़राब है। मोदी सरकार के 'अच्छे दिन' का वायदा दरअसल बड़े पूँजीपतियों/कॉर्पोरेट घरानों के लिए अच्छे दिन का वायदा था। जिसे मोदी सरकार ने नोटबन्दी, जीएसटी, बेलआउट पैकेज, बेहद कम दर पर क़र्ज़ तथा पुराने

क़र्ज़ों को बट्टे खाते में डालने, सरकारी संस्थानों को बहुत ही कम क़ीमत पर पूँजीपतियों को सौंपने, श्रम क़ानूनों को पूँजीपतियों के पक्ष में बदलने, शिक्षा-चिकित्सा जैसी बुनियादी सुविधाओं वाले क्षेत्रों को पूँजीपतियों की लूट के खुले चरागाह में तब्दील करने आदि के ज़रिये अंजाम दिया है।

मोदी सरकार ने तो कोरोना काल में भी (जबकि लाखों लोग दवा-अस्पताल-ऑक्सीज़न और रोज़ी–रोटी के अभाव में दम तोड़ रहे थे।) बड़े पूँजीपतियों/कॉर्पोरेट घरानों की ख़ूब तन-मन-धन से सेवा की। ऑक्सफ़ैम की रिपोर्ट के मुताबिक़ कोरोना की अवधि के दौरान ही भारत के अरबपतियों की सम्पत्ति दो गुनी हो गयी।

इस पूरे विश्लेषण के बाद यह आसानी से समझा जा सकता है कि बेरोज़गारी और बेरोज़गारी से आत्महत्या करते छात्रों-युवाओं और पूरे देश में फैलाये जा रहे साम्प्रदायिक उन्माद के बीच क्या रिश्ता है? इससे समझा जा सकता है कि आम जनता की तबाही-बर्बादी की क़ीमत पर पूँजीपति वर्ग की तिजोरी भरने वाली भाजपा व संघ देश को क्यों साम्प्रदायिक उन्माद की आग में झोंक रहा है?

आत्महत्या नहीं, साम्प्रदायिक उन्माद नहीं, सबको रोज़गार के लिए देशव्यापी संघर्ष और इंक़लाब का रास्ता चुनो!

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि छात्रों-युवाओं की बढ़ती बेरोज़गारी और उससे होने वाली आत्महत्याओं के लिए मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था और फ़ासीवादी भाजपा सरकार की नीतियाँ ज़िम्मेदार हैं और इसी से छात्रों-युवाओं का ध्यान हटाने और उन्हें आपस में लड़कर मरने-कटने के लिए साम्प्रदायिक उन्माद भड़काया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में छात्रों-युवाओं को क्या करना चाहिए?

सबसे पहले तो छात्रों-युवाओं को भाजपा और संघ परिवार द्वारा फैलाये जा रहे साम्प्रदायिक उन्माद की राजनीति को समझना होगा। उन्हें यह समझना होगा कि भाजपा और संघ परिवार भले ही मुस्लिम आबादी को निशाना बनाते हुए अपने को हिन्दुओं का मसीहा बताते हैं या 'राष्ट्र' के विकास का शोर मचाते हैं। लेकिन फ़ासीवादी ताक़तों का असली निशाना आम आबादी और आम घरों के बेटे-बेटियाँ ही हैं और 'राष्ट्र' के विकास के ढोंग के नाम पर असल में ये मुट्ठी भर पूँजीपतियों की तिजोरी भरते हैं। प्रगतिशील, इंसाफ़पसन्द छात्रों-युवाओं को व्यापक हिन्दू आबादी के बीच भाजपा और संघ परिवार द्वारा स्थापित किये गये इस झूठे 'नैरेटिव' को ध्वस्त करना होगा कि केवल मुस्लिम या "राष्ट्र" के विकास में बाधा बनने वाले ही फ़ासिस्टों के निशाने पर हैं। हमें इस सच को स्थापित करना होगा कि भाजपा और संघ परिवार का निशाना वो सभी हैं (हर जाति-धर्म के) जो इनके द्वारा मुट्ठी भर पूँजीपतियों की सेवा में कोई बाधा खड़ी करते हैं। भाजपा के सत्ता में आने के बाद से इसके बहुतेरे उदाहरण भरे पड़े हैं। अभी हाल ही में सेना की भर्ती की तैयारी में लगे युवाओं की उम्मीदों पर पानी फेरते हुए भाजपा ने 4 सालाना ठेके की "राष्ट्रसेवा", अग्निपथ योजना लागू कर दी। इस योजना के विरोध में छात्रों की आत्महत्या और गहरे असन्तोष का भाजपा पर कोई असर न पड़ा बल्कि आन्दोलनकारी छात्रों-युवाओं का बर्बर दमन किया गया। आगे इस तरह की योजना भाजपा सरकार सभी विभागों में डण्डे के ज़ोर पर लागू करेगी। सत्ता का बुलडोज़र केवल मुस्लिमों पर नहीं चल रहा! अभी ज़्यादा दिन नहीं बीते जब फ़रीदाबाद के पास खोरी में लाखों ग़रीबों के घर ढहा दिये गये। सीएए/एनआरसी के मामले में भी यह झूठ फैलाया गया कि इसमें केवल मुस्लिम और बाहर के घुसपैठिये फँसेंगे। लेकिन असल में सीएए/एनआरसी की साज़िश में वो सभी शिकार बनेंगे जो ग़रीब मेहनतकश हैं। भाजपा ने सत्ता में आने के बाद जंगलों की खनिज सम्पदा को पूँजीपतियों पर लुटाने के लिए आदिवासियों पर पहले से होने वाले ज़ुल्मों को तेज़ किया है। किसी भी जाति-धर्म के मज़दूरों की हड्डी से मज्जा तक निकाल लेने के लिए पूँजीपतियों के हित में पुराने श्रम क़ानूनों को बदल कर चार लेबर कोड लाया गया है। इसी तरह भाजपा के पिछले 10 वर्षों के शासनकाल में दलितों के उत्पीड़न के मामलों में 66 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। जेलों में केवल मुस्लिम कार्यकर्ता ही नहीं, बल्कि वो सभी बन्द हैं या बन्द किये जा रहे हैं जिन्होंने भाजपा के फ़ासीवादी राज के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी है।

दूसरे, हमें भगत सिंह, राम प्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक़उल्ला खां जैसे क्रान्तिकारियों से प्रेरणा लेते हुए पर्चों, पुस्तिकाओं, गोष्ठियों, गीतों, नुक्कड़ नाटकों, पदयात्राओं, नुक्कड़ सभाओं आदि के ज़रिये सभी धर्मों के आम छात्रों-युवाओं और मेहनतकशों की एकता पर बल देना होगा। सच्ची धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों को आम जनता में गहराई से पैठाना होगा। साम्प्रदायिक उन्माद फैलाने की साज़िश का त्वरित पर्दाफाश करने के लिए गली-मोहल्लों में युवाओं की टीम गठित करनी होगी। साम्प्रदायिक ज़हर फ़ैलाने वाले अख़बारों-चैनलों के व्यापक बहिष्कार अभियान संगठित करने होंगे। हिटलर-मुसोलिनी जैसे फ़ासिस्टों और उनसे सीख लेकर बने संघ परिवार के इतिहास और इनके कारनामों को जन-जन तक पहुँचाना होगा।

तीसरे, बढ़ती फ़ीसों और घटते रोज़गार पर छात्रों-युवाओं को देश व्यापी आन्दोलन संगठित करने की दिशा में आगे बढ़ना होगा। क्योंकि व्यापकता और निरन्तरता में होने वाले आन्दोलन भाजपा के जनविरोधी पूँजीपरस्त चेहरे को बेनक़ाब करते हैं। छात्रों-युवाओं के आन्दोलन को पूँजीवाद विरोधी संघर्ष से जोड़ना होगा और अतीत से सबक लेते हुए इसे कांग्रेस, सपा, बसपा जैसी पूँजीवादी पार्टियों और जय प्रकाश नारायण, अण्णा हज़ारे जैसे पूँजीवादी व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदारों द्वारा हड़पने से बचाना होगा। ●

सामयिकी

अग्निपथ: ठेके पर "राष्ट्र सेवा" की योजना

अविनाश

कवि पास्टर निमोलर ने कहा था कि फ़ासीवादी, देशप्रेम और "राष्ट्रवाद" की डफली बजाते हुए अन्तत: किसी को नहीं छोड़ते! इस बात की प्रमाणिकता आज भारतीय फ़ासीवादी निज़ाम पेश कर रहा है। फ़ासीवादी सत्ता द्वारा आतंकवादियों की फण्डिंग रोकने और "राष्ट्र" की सुरक्षा की आड़ में आम जनता के हितों पर हमले का जो सिलसिला नोटबन्दी से चला वह जीएसटी, श्रम क़ानूनों में बदलाव, सरकारी विभागों में लैटरल एण्ट्री, सरकारी कर्मचारियों को सीआरएस/वीआरएस के ज़रिये जबरिया सेवानिवृत्ति, विभागों के निजीकरण आदि रूपों में आज भी जारी है। अब बारी है सैनिक और अर्द्धसैनिक बलों की!

मोदी सरकार द्वारा सैनिक और अर्द्धसैनिक बलों की भर्ती के लिए लायी गयी अग्निपथ योजना पूरे देश में कुछ दिनों तक चर्चा, बहस और विवाद का मसला बनी रही। इस फ़ैसले के बाद पूरे देश में स्वतःस्फूर्त तरीक़े से छात्रों-युवाओं का असन्तोष उग्र प्रदर्शन के रूप में फूट पड़ा। सैकड़ों की संख्या में ट्रेनों-बसों, कार्यालयों आदि को आग के हवाले कर दिया गया। कई जगहों पर इसके ख़िलाफ़ बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए और कई जगहों पर यह सिलसिला अभी चल रहा है। इन प्रदर्शनों के बाद सत्ता द्वारा पूरे देश में दमन और उत्पीड़न के नये कीर्तिमान रचे गये और अब भी दमन का पाटा अलग-अलग रूपों में चल रहा है। छात्रों-नौजवानों के आक्रोश के मुख्य केन्द्रों पर अघोषित कर्फ़्यू लगा दिया गया। छात्र-बहुल केन्द्रों के चौराहों-नुक्कड़ों पर पुलिस लगी हुई है। सारे कोचिंग सेण्टरों को प्रशासन द्वारा जबरिया बन्द करवा दिया गया था। प्रशासन द्वारा कोचिंग संचालकों को योजना के पक्ष में वीडियो बनाने के लिए बाकायदा निर्देशित किया गया था। तमाम राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं की एक-एक गतिविधियों की निगरानी की जा रही थी और केवल सन्देह के बिना पर कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार किया जा रहा था।

सत्ता में पहुँचने के लिए भाजपा ने अपने चुनाव प्रचार में सेना, देशप्रेम, राष्ट्रवाद, राष्ट्रसेवा का ख़ूब भावनात्मक इस्तेमाल किया था। इस प्रक्रिया में फासिस्टों ने सेना का निरपेक्ष आदर्शीकरण कर इसे सवालों से परे किसी दैवीय शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। लेकिन आज यही सेना के जवान फासिस्टों के ख़ूनी पंजों का शिकार हो रहे हैं।

क्या है अग्निपथ योजना?

वास्तव में अग्निपथ योजना ठेके पर "राष्ट्र-सेवा" की योजना है। मोदी सरकार 'अग्निपथ' के ज़रिये सैनिक और अर्द्धसैनिक बलों को भी 'फ़िक्स्ड टर्म एम्प्लॉयमेण्ट' या 'फ़िक्स्ड टर्म कॉण्ट्रेक्ट' या ज़्यादा साफ़ शब्दों में कहें तो ठेका प्रथा के मातहत ला रही है। अग्निपथ के तहत सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में "अग्निवीरों" को चार वर्ष के लिए नौकरी दी जायेगी और उसके बाद 75 फ़ीसदी नौजवानों को बिना किसी सामाजिक सुरक्षा के सड़कों पर धक्के खाने के लिये छोड़ दिया जायेगा। इन "अग्निवीरों" को पेंशन व ग्रैच्युटी आदि जैसे अधिकार भी हासिल नहीं होंगे। पेमेण्ट ऑफ ग्रैच्युटी एक्ट", 1972 के मुताबिक़ अगर कोई शख़्स किसी कम्पनी या किसी संस्था के लिए कम से कम 5 साल तक काम करता है तो वह ग्रैच्युटी का हक़दार होता है। ग्रैच्युटी की गणना करते समय महीने को 26 दिन का ही माना जाता है। इस प्रकार अगर कोई व्यक्ति किसी नियोक्ता के यहाँ 1560 दिनों तक काम करता है तो वह ग्रैच्युटी क़ानून के तहत ग्रैच्युटी पाने का अधिकारी हो जाता है। लेकिन मोदी जी ने एक बार फिर यहाँ मास्टर स्ट्रोक लगाया और अग्निवीरों को 1460 दिनों के लिए ही नियुक्त कर ग्रैच्युटी के आधार को ही ख़त्म कर दिया।

फ़ासिस्टों द्वारा सेना के जवानों के हितों पर किया जाने वाला यह हमला दरअसल देश के छात्रों-नौजवानों, आम मेहनतकशों, मज़दूरों, ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों आदि पर होने वाला परोक्ष हमला है। सेना और फौज़ में कौन जाता है? क्या नेताओं-मन्त्रियों, पूँजीपतियों के बेटे जाते हैं? नहीं! इनके बेटे-बेटियाँ जनता की लूट के पैसों से विदेशों में सैर करते हैं, जो यहाँ रह जाते हैं उन्हें बड़े प्रशासनिक पदों पर नियुक्त कर लिया जाता है। सच्चाई यही है कि सेना-पुलिस में आम मेहनतकश और निम्न-मध्यम वर्ग के घरों के बेटे-बेटियाँ जाते हैं जिनको यह व्यवस्था अपने हितों के मातहत ट्रेनिंग देकर तैयार करती है। पूँजीवादी राज्यसत्ता द्वारा पूँजी के निहित स्वार्थों के मद्देनज़र सेना के जवानों को सोचने-विचारने की क्षमता से रिक्त कर बिना सवाल किये केवल आदेश मानने वाले रोबोट में बदलने का हर सम्भव प्रयास करता है। इसीलिए इनको हर प्रकार की राजनीतिक गतिविधि, इतिहास, देश-विदेश में चल रही बहसों आदि से दूर रखा जाता है। यहाँ तक की सैन्य बलों को सामान्य नागरिक अधिकारों जैसे कि यूनियन आदि बनाने के अधिकार से भी वंचित रखा जाता है। सेना में व्याप्त अलोकतान्त्रिक-ग़ैरजनवादी माहौल और भयंकर शोषण, उत्पीड़न और अपमान के कारण सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में तेज़ी से अवसाद फैल रहा है। लम्बे समय तक ऐसी जटिल और उबाऊ परिस्थितियों में काम करने के कारण हताश-निराश नौजवान आत्महत्या जैसे क़दम उठा रहे हैं। पिछले सात सालों में 800 से अधिक सेना के जवानों ने इस स्थिति से तंग आकर आत्महत्या का रास्ता चुना है, यह संख्या कारगिल युद्ध

में मारे गये सैनिकों की संख्या (527) से काफ़ी ज़्यादा है। सेना के जवानों की आत्महत्याओं की यह वह संख्या है जो सेना में भयंकर सरकारी सेंसर के बाद लोगों तक पहुँची है। अगर सही से रिपोर्टिंग की जाय तो यह संख्या इससे कई गुना ज़्यादा होगी। इस योजना के आने के बाद ही देश भर से सेना में जाने के इच्छुक दर्जनों छात्र आत्महत्या कर चुके हैं।

ऐसा नहीं है कि मोदी सरकार 'अग्निपथ' जैसी घोर छात्र-नौजवान विरोधी योजना को रातों-रात लेकर आ गयी है। इसकी पूर्वपीठिका काफ़ी लम्बे समय से तैयार की जा रही थी, तब समाज में एक प्रकार की मुर्दाशान्ति छायी हुई थी। सत्ता सम्भालते ही मोदी सरकार ने सरकारी विभागों में उच्च पदों पर भर्ती के लिए 'लैटरल एण्ट्री' की नीति अपनाकर अपना इरादा ज़ाहिर कर दिया था। फिर सरकारी विभागों में भर्तियों को लगभग रोक दिया गया और सरकारी विभागों के अन्धाधुन्ध निजीकरण का दौर शुरू हुआ। अगले क़दम के तौर पर मोदी सरकार द्वारा पेट्रोलियम उत्पादों पर भारी कर लगाकर सरकारी घाटे को कम करने का काम किया गया। देशभर में पूँजीपति वर्ग को नये लेबर कोड्स के तहत मज़दूरों के श्रम के बेरोकटोक शोषण की पूरी छूट देने की भी तैयारी की जा चुकी है, हालाँकि देश के 93 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों के श्रम की लूट की खुली छूट तो पहले से ही मिली हुई थी। अब श्रम क़ानूनों की वजह से पूँजीपतियों को जो थोड़ी-बहुत दिक्कत होती थी, उसे भी ख़त्म किया जा रहा है। सेवानिवृत्ति के बाद जीवन यापन के लिए मिलने वाली पेंशन को तो अटल बिहारी बाजपेयी की सरकार ही डकार गयी थी। अब इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए सेना में 'अग्निपथ' योजना के ज़रिये देश के मज़दूरों-ग़रीब किसानों के बेटे-बेटियों से स्थायी नौकरी का हक़, पेंशन का हक़ और ग्रैच्युटी का हक़ भी छीना जा रहा है।

'अग्निपथ योजना' के पीछे असली मंशा क्या है?

अग्निपथ योजना के पीछे की मूल वजह मोदी सरकार द्वारा राजकोषीय घाटे को पाटने के लिए सरकारी ख़र्चे को कम करना है। क्या यह बजट घाटा आम जनता द्वारा पैदा किया गया है? नहीं! राजकोषीय घाटे में वृद्धि की असली वजह पूँजीवादी व्यवस्था की आन्तरिक गतिकी में अन्तर्निहित है। पूँजीवाद अपनी स्वाभाविक गति से मन्दी को जन्म देता है। आज भारत सहित पूरी दुनिया की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक भयंकर आर्थिक मन्दी की चपेट में है। पूँजीवादी आर्थिक संकट दरअसल मुनाफ़े की औसत दर में गिरावट का संकट है। सरकारी राजस्व अर्थव्यवस्था में पैदा होने वाले अधिशेष का ही हिस्सा होता है। इसलिए आर्थिक संकट के दौर में सरकारी राजस्व में भी गिरावट लाज़िमी है। जिससे सरकारी घाटे का ग्राफ़ उत्तरवर्ती बढ़ता रहा है। इस बढ़ते सरकारी घाटे को पाटने के लिए पूँजीवादी सत्ताएँ जनता के शोषण के स्तर को बढ़ा रही हैं, जनता को मिलने वाली सीमित सामाजिक सुरक्षा को भी रद्द कर रही हैं। और इस प्रकार हर पूँजीवादी संकट के बोझ को आमतौर पर देश की जनता के सिर पर मढ़ती रही हैं। इसको इस रूप में आसानी से समझा जा सकता है कि सरकारी ख़जाने से हर साल लाखों करोड़ रुपये पूँजीपतियों को बेल आउट पैकेज के रूप में दे दिया जाता है। देश में कनफ़ेडरेशन ऑफ़ आल इण्डिया ट्रेडर्स के मातहत 40,000 संघों में संगठित आठ करोड़ पंजीकृत छोटे, मँझोले और बड़े व्यापारी हैं, लेकिन जीएसटी के तहत पंजीकृत व्यक्तियों और कारोबारों की संख्या मात्र 1.4 करोड़ है। मतलब साफ़ है कि साढ़े छः करोड़ से भी अधिक बड़े और मँझोले व्यापारी सरकार की देखरेख में टैक्स चोरी करते हैं। इसी प्रकार, कारपोरेट पूँजीपति घराने भारी पैमाने पर टैक्स चोरी करते हैं और उन पर लगने वाले टैक्स को मोदी सरकार समेत पिछले तीन दशकों में आयी सभी सरकारों ने लगातार घटाया है। साथ ही, खेतिहर पूँजीपति वर्ग यानी धनी किसानों-कुलकों को करों से छूट दी गयी है, साथ ही साथ एमएसपी के रूप में इस वर्ग को एक प्रकार का सरकारी संरक्षण भी प्राप्त है, जिसका बोझ अन्ततः आम मेहनतकश जनता ही उठाती है। पिछले पाँच सालों में देशभर में चुनावों पर जितनी फ़ुज़ूलख़र्ची हुई है, उतने में हर साल कम-से-कम पाँच लाख नौजवानों को रोज़गार देकर आजीवन वेतन और पेंशन की व्यवस्था की जा सकती है। नेताओं-मन्त्रियों की ऐय्याशी पर हर साल अरबों का वारा-न्यारा कर दिया जाता है।

इस फ़ुज़ूलख़र्ची को बन्द करके और सम्पत्तिवानों पर प्रगतिशील कर लगाकर राजकोषीय घाटे को भरने की जगह (यह भी कोई अन्तिम उपाय नहीं है क्योंकि जब तक लूट पर टिकी यह व्यवस्था क़ायम है, मन्दी का यह संकट दस्तक देता रहेगा) मोदी सरकार देश की लगभग 100 करोड़ जनता को भविष्य की अनिश्चितता, सामाजिक असुरक्षा, बेरोज़गारी, भुखमरी में धकेलने पर आमादा है।

भाजपा का "राष्ट्र" क्या है?

राष्ट्र और राष्ट्रवाद का राग अलापते हुए सत्ता में आयी भाजपा का "राष्ट्र" दरअसल अम्बानी-अडानी सरीखे बड़े देशी-विदेशी पूँजीपतियों की देश में करोड़ों मेहनतकशों पर नंगी तानाशाही है। आज जब देश का युवा बेरोज़गारी की भयंकर मार झेल रहा हो, जब शिक्षा लगातार आम जनता की पहुँच से दूर होती जा रही हो, जब दवा-ईलाज का ख़र्च उठा पाना आम जनता के बस के बाहर की बात बन गयी हो, तब राष्ट्र के विकास की सारी बातें कोरी लफ्फ़ाज़ी होती हैं और जनता को भरमाने का एक औज़ार होती हैं। वास्तव में, "राष्ट्रीय हित" और "राष्ट्र की रक्षा" के नाम पर पूँजीपति वर्ग के हितों की सेवा होती है और उन्हीं की रक्षा होती है। पूँजीपति वर्ग अपने हितों जैसे कि लाभप्रद निवेश के अवसरों की तलाश, बाज़ारों पर क़ब्ज़े की जद्दोजहद और सस्ते श्रम तथा कच्चे माल के स्रोतों पर क़ब्ज़ा आदि के लिए जब भी युद्ध भड़काते हैं, उसका ख़ामियाज़ा सेना के जवान जान गवाँ कर और आम जनता आसमान छूती महँगाई के रूप में चुकाती है।

अग्निपथ योजना के ख़िलाफ़ यह गुस्सा, बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ आम गुस्से की अभिव्यक्ति है-

'अग्निपथ' योजना के विरोध में

(पेज 32 पर जारी)

सामयिकी

आईआईटी खड़गपुर का कैलेण्डर: फ़ासीवादी प्रॉपेगैण्डा का एक औज़ार

सनी

आईआईटी खड़गपुर के द्वारा हाल ही में एक कैलेण्डर निकाला गया जिसमें यह बताया गया कि आर्य सिन्धु घाटी के निवासी थे। यह कैलेण्डर संघी प्रचार का एक औज़ार है जिसके ज़रिये फ़ासीवादी सरकार अपने विचारों को फैलाने में लगी है। एक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक शोध संस्थान से छपे प्रचार को एक बड़ी आबादी सत्य ही मानेगी। हुआ भी यही। इस ख़बर को भाजपा आईटी सेल ने सोशल मीडिया से लेकर व्हाट्सएप पर फैला दिया और यह आरएसएस के प्रचारकों की ज़ुबान पर भी आ चुका है। परन्तु आईआईटी खड़गपुर का यह प्रचार झूठा है और किसी शोध पर आधारित न होकर केवल मनगढ़न्त बातों और लफ़्फ़ाज़ी को तथ्य के रूप में पेश करता है। बेहद बचकानी समानताओं को इतिहास के तथ्यों के रूप में पेश करता है। 'कश्मीर फ़ाइल्स' ने कश्मीर का जैसा इतिहास पेश किया है वैसा ही कार्य आईआईटी खड़गपुर का कैलेण्डर कर रहा है। भले ही यह कैलेण्डर आज सीधे नरसंहार करने का आह्वान नहीं करता परन्तु असल में यह संघी प्रचार की उस आधारशिला को निर्मित करता है, जिसके दम पर दंगे कराने की साम्प्रदायिक राजनीति संघ कर पाता है।

यह कैलेण्डर आईआईटी खड़गपुर में छपा है। यह संस्थान के ही सेण्टर ऑफ इण्डियन नॉलेज सिस्टम और नेहरू साइंस सेण्टर के जॉय मुखर्जी द्वारा प्रकाशित है। जॉय मुखर्जी नामक यह व्यक्ति संघ द्वारा प्रायोजित एजेण्डे को ही आगे बढ़ा रहा है। यह अकारण नहीं कि एक ऐसे वक़्त में जब सरकार वैज्ञानिक शोध संस्थानों को बेचने में लगी है तभी भाजपा के मन्त्री ने इस सरकारी सेण्टर की स्थापना ख़ुद की। यह संस्थान दरअसल झूठ और अधूरे सत्यों के ज़रिये मिथ्या फैलाने में लगा है। संघ मौजूदा दौर में विचारधारात्मक क्षेत्र में कई मोर्चों पर हमले कर रहा है। प्राक् इतिहास से लेकर आधुनिक इतिहास के मिथ्याकरण की प्रक्रिया जारी है। यह फ़ासीवाद की मुख्य अभिलाक्षणिकता होती है। हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा को चुनौती देने वाले हर विचार को झुठलाने के काम में आरएसएस जुटा हुआ है।

यह प्रक्रिया इस बात को भी पुख़्ता कर देती है कि आरएसएस कोई अनपढ़ और ज़ाहिल लोगों का संगठन नहीं है और ये इतिहास तथा विज्ञान को अपनी राजनीति के प्रचार प्रसार के लिए सोचे-समझे तरीक़े से तोड़ते-मरोड़ते हैं। जर्मनी में भी कम्युनिस्टों, मज़दूरों और यहूदियों को गैस चैम्बर में डालकर मारने वाले वैज्ञानिक ज़ाहिल नहीं थे। न हाइज़ेनबर्ग ज़ाहिल था। न ही वे लोग जिन्होंने लोगों की चमड़ियों से पर्स और उनके शरीर की वसा से साबुन बनवाये। 60 लाख लोगों को मरवाकर आर्यों का शौर्य जगाने का आह्वान करने वालों की जारज़ संघी औलादें भी इस मामले में मूर्ख नहीं हैं। उनकी वहशियत के पीछे छिपी है पूँजीपतियों के मुनाफ़े की भूख! जिसे आर्थिक संकट के चक्र में घिरी जर्जर व्यवस्था में मज़दूरों के श्रम की लूट को बढ़ाकर ही हासिल किया जाता है। मज़दूरों और आम जनता के हर हक़ अधिकार को शातिराना तरीक़े से ख़त्म करने के लिए ही नक़ली मुद्दों पर फ़ासीवाद निम्न मध्यवर्गीय आन्दोलन खड़ा करता है।

इतिहास को विकृत करने का प्रयास: कैलेण्डर के नाम पर झूठ और तथ्यों की जगह जुमलेबाज़ी

आईआईटी खड़गपुर के कैलेण्डर का एक दावा यह है कि आर्यों ने भारत में प्रवास नहीं किया बल्कि वे हड़प्पा के ही मूल निवासी थे। इसके लिए कुछ तस्वीरों और चिन्हों को गड्ड-मड्ड कर पेश किया गया है। कैलेण्डर के अनुसार यह मानना ग़लत है कि हड़प्पा सभ्यता में कई लहरों में आर्यों का आगमन हुआ था। पुरातात्विक खुदाई, डीएनए अध्ययन, हड़प्पा सभ्यता की लिपि और उनकी सभ्यता के अन्य अध्ययन भी यह बताते हैं कि आर्य कई लहरों में ईरान और अफ़गानिस्तान के ज़रिये भारत आये। हड़प्पा सभ्यता का पतन आन्तरिक कारणों से आर्यों के आने से पहले ही हो चुका था। साल दर साल हो रही हड़प्पा की ख़ुदाई और अन्य अध्ययनों को धता बताकर संघी प्रचारक व्हाट्सएप के गटर से सूचनाओं को अपनी विचारधारा के साथ गूँथकर उसे भारतीय इतिहास बताने का काम कर रहे हैं।

ऐतिहासिक साक्ष्यों पर पर्दा डालकर कैलेण्डर के ज़रिये यह कहा गया है कि आर्यों को पश्चिमी आक्रान्ता बताना ग़लत है तथा वैदिक काल से लेकर भारत के उन्नत ज्ञान को पश्चिमी मूल बताने की प्रवृत्ति ग़लत है। इसके ज़रिये यह स्थापित करने की कोशिश की जाती है कि असल में सिन्धु घाटी सभ्यता ही समस्त मानवता का पालनाघर थी। प्रवास पश्चिम से पूर्व की ओर नहीं बल्कि सिन्धु घाटी से पश्चिम की ओर हुआ। मौजूदा ऐतिहासिक शोध को ख़ारिज करने वाले इन कथनों को यह कैलेण्डर 'सबूत' के तौर पर पेश करता है।

इस कैलेण्डर और आम तौर पर संघियों द्वारा पश्चिम और भारतीय को दो ध्रुवीय तस्वीर में बाँटना ही ग़लत है। इनका कुतर्क मिथकों के बनने की प्रक्रिया को गोल कर जाता है और समस्त

ज्ञान को पहले से बना बनाया तथा निरपेक्ष बनाकर पेश करता है जो कि ग़लत व विज्ञानविरोधी है। संघी कैलेण्डर के अनुसार अगर आर्य यूरोप से भारत में आये होते तो वैदिक मिथकों में हड़प्पा कालीन मिथक नहीं मिलने चाहिये। यह मूर्खतापूर्ण समझदारी है जो इतिहास की समझदारी के ख़िलाफ़ जाती है।

कैलेण्डर के झूठे दावे

आइये कैलेण्डर में किये दावों की सिलसिलेवार पड़ताल करें। कैलेण्डर में यह दावा किया गया है कि सिन्धु घाटी में शिव की मुहर मिली है तथा वेदों में भी शिव का ज़िक्र आता है। कैलेण्डर के अनुसार इससे यह सिद्ध होता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता वैदिक सभ्यता थी। यह शिव के मिथकीय उद्भव की जटिलता पर पर्दा डालने की कोशिश है। डीडी कोसम्बी बताते हैं कि सिन्धु घाटी की मुहर पशुपति की है जिसके तीन सिर हैं और सिर पर भैंसे के सींग हैं। शिव के उच्चतम ईश्वर बनने की प्रक्रिया जटिल है और हड़प्पा कालीन मिथक व अन्य मिथकों के वैदिक मिथकों में विलय होने की प्रक्रिया को दिखाता है। यानी यहाँ जिसके आधार पर मिथक खड़ा हुआ उसे ही कैलेण्डर गोल कर जाता है। इसका आर्यों के आगमन से कोई अन्तरविरोध नहीं बल्कि यह अन्य साक्ष्यों की रोशनी में उसका सत्यापन ही करता है। यह यही दिखलाता है कि मिथक का निर्माण जटिल सामाजिक प्रक्रिया में हुआ। परन्तु जब आपको झूठ बोलना हो तो केवल एक मुहर के आधार पर इतिहास को ख़ारिज करने में कोई देर नहीं लगती है।

आगे कैलेण्डर में सिन्धु घाटी की पशुपति की एक मुहर और अन्य मुहर की छाप को बेसिर-पैर तरीक़े से बुद्ध की प्रतिमा के साथ जोड़कर पेश किया गया है। सिन्धु घाटी की मुहर और गौतम बुद्ध की ध्यान की मुद्रा में मौजूद प्रतिमाओं को योग की श्रेणी में रखना वह भी मुद्राओं के आधार पर एक वैसी ही समानता स्थापित करना है जैसे कि यह कहना कि इन तस्वीरों में दिख रहे तीनों लोग मनुष्य हैं। इसके बाद के दावे और हास्यास्पद होते चले जाते हैं।

एक अन्य जगह सिन्धु घाटी की मुहर में अंकित यूनिकोर्न (एक सींग वाला घोड़ा) को महाभारत के मिथकीय चरित्र ऋष्यशृंग (जो मनुष्य और मादा हिरण से पैदा हुए) से जोड़ा गया है। इस तरह से तो संघी जॉय मुखर्जी को जल्द ही हॉलीवुड की हैरी पॉटर सरीखी रद्दी फैन्टेसी फिल्मों के भारतीय संस्करण लिखने का ऑफ़र मिल सकता है। आगे वे दोनों विश्व-युद्धों के शुरू होने का कारण आर्य नस्ल की श्रेष्ठता बताते हैं और इस श्रेष्ठता को धिक्कारने के बाद वे हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का गान करते हैं!

कुल मिलाकर जॉय मुखर्जी ने पूरे कैलेण्डर में संघ के प्रचार को भारी-भरकम वैज्ञानिक शब्दावली के पीछे छिपाने की कोशिश की है। ऐसे ही एक दावे में यह व्यक्ति गैर-रेखीय गतिकी और तरल गतिकी अवधारणाओं का ज़िक्र करते हुए बताता है कि ये अवधारणाएँ सिन्धु घाटी सभ्यता के समय ही पैदा हो चुकी थीं। जबकि ऐतिहासिक साक्ष्य यह बताते हैं कि सिन्धु घाटी सभ्यता के समय में गणित की केवल जोड़ने घटाने की अवधारणा पैदा हुई थी। इस समय ज्यामिति और अंकगणित की प्रारम्भिक अवधारणा ही विकसित हो रही थी। गैर-रेखीय गतिकी और तरल गतिकी इस समय पैदा हो ही नहीं सकते थे। तरल गतिकी आधुनिक विज्ञान है जो कि खनन के साथ पैदा हुआ। इससे पहले क्लासिकीय गतिकी के नियमों का पैदा होना आवश्यक था। गैर-रेखीय गतिकी का विकास भी आधुनिक जगत में ही हो सकता था। इतिहास में यह इस तरह ही हुआ। जॉय मुखर्जी जैसे मूर्ख भारतीय महाद्वीप पर पैदा हुए विज्ञान के साथ भी अन्याय करते हैं। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'प्रारम्भिक भारत में विज्ञान और तकनोलोजी का इतिहास' पुस्तक में कहा है कि सिन्धु घाटी सभ्यता का दौर गणित में मुख्यत: अंकगणित और ज्यामिति के खड़े होने का दौर था। ज्यामिति के बारे में हमें 'सुल्वा सूत्रों' से पता चलता है। 'सुल्वा सूत्रों' में ईंट बनाने के ज्ञान और नगर नियोजन की चर्चा आती है, परन्तु संघी कैलेण्डर के रचयिता इससे अनभिज्ञ हैं।

पूरे कैलेण्डर में इस क़िस्म की मूर्खताएँ जारी रहती हैं। आगे कैलेण्डर में एक जगह अवनीन्द्रनाथ के चित्र और हड़प्पा की मुहर को एक साथ पेश किया गया है। यह भी महामूर्खता है। हड़प्पा काल की कांसे की मूर्ति में स्त्री के चित्रण में आदिम काल की स्त्री की सामाजिक भूमिका (पुनरुत्पादन के सन्दर्भ में) अलग थी और अवनीन्द्रनाथ टैगोर की 'भारत माता' की राष्ट्र की अवधारणा अलग है। परन्तु संघी मानस के दिमाग़ में गोबर हो तो इस तरह की तुलनाएँ लाज़िमी है। इन कुछ मुख्य उदाहरणों से ही यह सिद्ध होता है कि यह कैलेण्डर व्हाट्सएप यूनिवर्सिटी पर चल रहे झूठों को एक जगह पिरो कर पेश करता है।

कैलेण्डर का मक़सद संघ के हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा को स्थापित करना है

आईआईटी खड़गपुर कैलेण्डर का मक़सद ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर संघ के हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा को स्थापित करना है। कैलेण्डर संघी प्रचार को ही स्थापित करना चाहता है कि भारत की ज़मीन पर हिन्दू धर्म के लोग सदा-सदा से मौजूद थे। साथ ही 'वैदिक ज्ञान' ईश्वर द्वारा प्रतिपादित है जो निरपेक्ष तथा अपरिवर्तनीय है। भारत में रहने वाले लोगों को 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' की अवधारणा में नापकर मुसलमानों और ईसाईयों को दुश्मन बताना आसान है। यह अवधारणा दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों से लेकर धर्म के आधार पर भाषा के आधार पर तमाम समुदायों को दूसरे दर्ज़े का नागरिक घोषित कर उत्पीड़न का औज़ार देती है। आरएसएस की फ़ासीवादी विचारधारा हिन्दुत्व का पहला बड़ा विचारक सावरकर ही था जिसने हिन्दुत्व को भौगोलिक आधार दिया। उसने कहा कि हिन्दू वह है जिसकी जन्मभूमि और कर्मभूमि सिन्धु नदी के पश्चिम में है। सावरकर ने ही यह कहा कि मुसलमान भारत के नागरिक नहीं हो सकते क्योंकि उनकी पुण्यभूमि अरब और फ़िलीस्तीन है। सावरकर ने ख़ुद कहा

था कि हिन्दुत्व और हिन्दुइज़्म में अन्तर होता है। सावरकर के ही विचारों को संघ के दूसरे सरसंघचालक गोलवरकर ने आगे विकसित किया। संघ के इस एजेण्डे को रोमिला थापर ने स्पष्ट किया है। वे बताती हैं कि आरएसएस भारत में हिन्दू धर्म की एक ख़ास 'सिण्डिकेटेड हिन्दुइज़्म' की अवधारणा को विकसित करता है। यह पुराण और उपनिषदों के ब्राह्मणवादी ढाँचे का इस्तेमाल कर पूरे हिन्दू धर्म को एकाश्मी तथा अपरिवर्तनीय पेश करता हैं। इसके लिए यह बताना ज़रूरी बन जाता है कि हिन्दू धर्म हिन्दुस्तान में ही जन्मा था। असल में संघ वैदिक काल से नहीं बल्कि पुराण और उपनिषदों के ब्राह्मणवादी ढाँचे का इस्तेमाल कर पूरे हिन्दू धर्म को व्याख्यायित करता है। यह पूरे हिन्दू धर्म को एकाश्मी तथा अपरिवर्तनीय पेश करता है। साफ़ है कि यह कैलेण्डर फ़ासीवादी विचारधारा के सबसे बुनियादी प्रचार को स्थापित करने का प्रयास करता है।

फ़ासीवाद की बुनियादी प्रवृत्ति एक काल्पनिक छद्म शत्रु खड़ा करने की होती है। यह वह विचारधारात्मक यन्त्र है जिसके ज़रिये 'अदरिंग' की जाती है। इसके लिए ज़रूरी बन जाता है कि मिथकों को कॉमनसेंस के रूप में प्रचारित किया जाए। साथ ही इस काल्पनिक शत्रु को बेहद बड़े आकार का पेश किया जाता है। 'हिन्दू ख़तरे में' के प्रचार को इस प्रकार लव जिहाद, मुस्लिमों की बढ़ती जनसंख्या और अन्य क़िस्म के प्रचार के ज़रिये ही स्थापित किया जाता है। इस प्रचार में कम्युनिस्टों और सभी प्रगतिशील ताक़तों को समेट लिया जाता है। देशद्रोही आरोपी का दायरा हर वो शक्ति बन जाती है जो कि फ़ासीवादी सरकार का विरोध करती है। उन्हें इस दायरे में लाने के लिए झूठ और मिथ्या का तानाबाना खड़ा किया जाता है। ऐसे मकड़जाल बुनने में फ़ासीवादी संघ मशीनरी महारत हासिल कर चुकी है। यह मिथ्या विचारधारा भी ज़मीन पर एक भौतिक शक्ति बन जाती है। इस सन्दर्भ में रखकर देखने पर स्पष्ट होता है कि मौजूदा कैलेण्डर संघ की फ़ासीवादी विचारधारा की अट्टालिका के बुनियादी पत्थरों में से एक है। संघ के प्रचार के अनुसार वेद रचने वाले आर्य हिन्दू ही थे और वे ही हड़प्पा में मौजूद थे। इसलिए यह दावा पेश किया जाता है कि आर्य ही हड़प्पा सभ्यता में मौजूद थे। उनके इस दावे को सही साबित करने के लिए ही आईआईटी खड़गपुर का कैलेण्डर यह झूठा प्रचार करने में लगा है कि हड़प्पा में रहने वाले लोग ही आर्य थे। वैज्ञानिक संस्थान द्वारा जारी किया गया यह कैलेण्डर सभी वैज्ञानिक दावों के विरोध में जाकर झूठ प्रचारित कर रहा है। संघ द्वारा राज्यसत्ता और उसके अंग-उपांगों में फ़ासीवादी कैडरों का प्रवेश कराया गया है। इसके तहत ही शैक्षणिक और वैज्ञानिक संस्थानों में मौजूद संघी इन विचारों को बेहद बड़े स्तर पर फैला रहे हैं। 2019 की विज्ञान कांग्रेस में भी इस क़िस्म के दावे किये गये थे। हाल ही में आईआईटी मण्डी के डायरेक्टर ने भी दावा किया कि भूत-प्रेत होते हैं। इन शोध संस्थानों के उच्चतर पद पर बैठे संघी प्रोफेसरों के द्वारा बेसिर पैर के दावे असल में संघी प्रचार तन्त्र का ही अंग हैं।

इस कैलेण्डर का मक़सद आम जनता के इतिहास बोध पर हमला करना है, क्योंकि इतिहास जनता के पक्ष में है। इतिहास ही बताता है कि हमारा समाज बदलता रहा है। न सिर्फ़ नदियाँ, पहाड़ और जंगल बदले हैं बल्कि उन सबसे बेहद अधिक तेज़ी से मानव समाज बदला है। समाज में बदलाव जिस कारण से होता है वह वर्ग संघर्ष होता है। ऐसे में हर पूँजीपति और आम तौर पर शासक वर्ग यही यक़ीन दिलाना चाहता है कि हम हमेशा से ही ग़रीब थे। हम हमेशा ही लूटे जाते रहेंगे। यह अपरिवर्तनीय है। शूद्र शूद्र रहेंगे और ब्राह्मण ब्राह्मण ही रहेंगे। परन्तु अगर हम अपने अतीत को देखें और पीछे मुड़कर इस दुनिया के अतीत को देखें तो हम समझ सकते हैं कि हमारा समाज नित-निरन्तर परिवर्तित होता रहा है। हर परिवर्तन के पीछे आन्तरिक संघर्ष ही रहा है। समाज में यह आन्तरिक संघर्ष वर्ग संघर्ष रहा है। इतिहास बदलता है। यह सत्य है। यह सत्य ही आम मेहनतकश जनता के पक्ष में है। शोषण सर्वदा से मौजूद नहीं था और आगे भी मौजूद नहीं रहेगा। इतिहास को आम मेहनतकश जनता ही बदलती है। इसके लिए उसे अपने इतिहास से वाकिफ़ होना होगा। इतिहासबोध को आम जन तक ले जाना क्रान्तिकारी ताक़तों के समक्ष बेहद ज़रूरी कार्यभार है। इसलिए ही फ़ासीवादी शासक जनता के उन्नत तत्वों के ऐतिहासिक विज्ञान को भोथरा करने के लिए झूठ का प्रचार कर रहे हैं। ●

कथा सम्राट प्रेमचन्द के जन्मदिवस (31 जुलाई) के अवसर पर

• अब क्रान्ति में ही देश का उद्धार है, ऐसी क्रान्ति जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्त और परिपाटियों का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नयी सृष्टि खड़ी कर दे, जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।

- "कर्मभूमि" से

• सभी नियम पूँजीपतियों के लिए बनाये गये हैं और पूँजीपतियों को ही यह निश्चय करने का अधिकार दिया गया है कि उन नियमों का व्यवहार कहाँ करें। कुत्ते को खाल की रखवाली सौंपी गयी है।

• हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं उसमें तो जन्मगत वर्णों की गन्ध तक न होगी, वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा न कोई हरिजन, न कायस्थ न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे या सभी हरिजन होंगे।

• सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल सम्पत्ति के संचय में बीत जाती है। हम सम्पत्ति के लिए मरते हैं। घी में आलू मिलाकर क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा यन्त्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं? डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है।
जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति व्यक्तिवाद का अन्त नहीं होगा, संसार को शान्ति न मिलेगी।

-"राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता" से

• अगर साम्प्रदायिकता अच्छी हो सकती है तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है क्योंकि पराधीनता में ज़िम्मेदारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है। हम तो साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं, जो हर एक संस्था में दलबन्दी कराती है और अपना छोटा सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।

- "अच्छी और बुरी साम्प्रदायिकता" से

'आह्वान' के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये 'आह्वान' सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। हम आपको बताना चाहते हैं कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में 'आह्वान' अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप – 1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर के सहयोग करें। 2. अपने मित्रों को 'आह्वान' की सदस्यता दिलवाएँ। 3. 'आह्वान' के लिए आर्थिक सहयोग भेजें। साथ ही, 'आह्वान' के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र भेजने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि नीचे दिये गये बैंक खाते में भेज सकते हैं या आह्वान के पते पर चेक/ड्राफ़्ट/मनीऑर्डर भेज सकते हैं। आर्थिक सहयोग या सदस्यता राशि भेजते समय हमें सूचित अवश्य करें और अपना पूरा पता और फ़ोन नम्बर ज़रूर दें।

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, बादली शाखा, खाता नं. 21360100010629,
IFSC: BARB0TRDBAD (BARB के बाद 0 (शून्य) है)

साभिवादन,
सम्पादक

फ़िल्म समीक्षा

‘पुष्पा’, ‘केजीएफ़’... उन्हें बंजर सपने बेचो!

सुहास

पिछले कुछ वर्षों में ऐसी फ़िल्मों की एक बाढ़-सी आयी है जिसमें नायक किसी मज़दूर-वर्गीय पृष्ठभूमि से आता है और फिर सभी प्रतिकूल परिस्थितियों का मुक़ाबला करते हुए और उन पर विजय पाते हुए वह कोई बड़ा डॉन बन जाता है। इनमें से अधिकांश फ़िल्में दक्षिण भारतीय भाषाओं में बनी हैं और बाद में हिन्दी में डब की गयी हैं। लेकिन इन डब फ़िल्मों को उत्तर भारत के हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि पूरे भारत में ही काफ़ी सफलता मिली है। इन फ़िल्मों को भारी संख्या में देखने वालों में एक अच्छी-ख़ासी आबादी मेहनतकश वर्गों के लोग और विशेषकर मज़दूर हैं। हम मज़दूर अपने इलाक़ों में युवा मज़दूरों व आम तौर पर नौजवानों को ‘पुष्पा’ फ़िल्म के नायक की शैली के नृत्य की नक़ल करते, उसकी अदाओं की नक़ल करते और उसके डायलॉग मारते देख सकते हैं। इसी प्रकार ‘केजीएफ़’ फ़िल्म के नायक के संवादों और शैली की नक़ल करते हुए भी पर्याप्त युवा मज़दूर व नौजवान मिल जाते हैं। इन फ़िल्मों और उनके गीतों (अक्सर फूहड़ और अश्लील गीतों) की लोकप्रियता सारे रिकॉर्ड ध्वस्त कर रही है। **इसकी क्या वजह है? इन फ़िल्मों में ऐसा क्या है कि हमारे बीच तमाम मज़दूर इसके दीवाने हुए जा रहे हैं?**

इसकी **पहली वजह** यह है कि इन फ़िल्मों में हीरो किसी मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि से आता है। वह ग़रीबी से संघर्ष करता है, हर प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों से अकेले अपनी व्यक्तिगत बहादुरी और बिन्दासपन के बूते जीत हासिल करता है और कालान्तर में ख़ुद अपनी शेरदिली और दुस्साहसिक कारनामों के ज़रिए एक अपराधी बन जाता है और इसी अपराध की बुनियाद पर वह अन्ततः एक बड़ा कारोबारी बन जाता है, जिसने ख़ुद बहुत-से मज़दूरों को काम पर रखा होता है। चूँकि यह हीरो मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि से आता है, बचपन में ही बहुत-से ज़ुल्म झेलता है, पुलिस की मार झेलता है, उसकी माँ या परिवार वालों को दबंग गुण्डे, अपराधी और पूँजीपति सताते हैं, और हर क़दम पर उसे ज़िल्लत का सामना करना पड़ता है, इसलिए आज के समाज के आम मज़दूर युवा कहीं न कहीं अपनी छाया को उसमें देखते हैं। कारण यह कि वास्तव में एक ग़रीब मज़दूरवर्गीय युवा को अक्सर ही वास्तव में इस प्रकार की स्थितियों का सामना करना पड़ता है। यदि वह ख़ुद मज़दूरी कर रहा होता है, तो आये दिन उसे मालिकों-सेठों के हाथों मारपीट, गाली-गलौच, अपमान, उत्पीड़न और दमन का सामना करना पड़ता है। अगर वह दलित पृष्ठभूमि से आता है तो यह शोषण, दमन और उत्पीड़न और भी भयंकर रूप धारण करता है। ‘पुष्पा’ फ़िल्म का नायक भी किसी तथाकथित “निचली” जाति से आता है, जिसकी माँ के साथ किसी ऊँची जाति का धनी आदमी रिश्ते बनाता है और बाद में उसे पत्नी के रूप में नहीं अपनाता है। पुष्पा को बचपन में ही जातिगत अपमान, ‘नाजायज़’ होने के तानों और वर्गीय शोषण-उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। लेकिन उसके बावजूद पुष्पा इस ऊँची जाति के आदमी के प्रति पुत्र समान भावनाएँ और आकांक्षाएँ रखता है और उसकी माँ भी उसे अपना पति देव मानती है! यह स्वयं एक बेहद ही घिनौनी और अपमानजनक प्रतिक्रियावादी पिछड़ी सोच है। एक दूसरे अर्थ में ‘केजीएफ़’ के नायक को भी ग़रीबी और दमन-उत्पीड़न के बर्बरतम रूपों का सामना करना पड़ता है। इन फ़िल्मों में इस अन्याय और अपमान का जो चित्रण होता है वह निश्चित ही मज़दूरों के भीतर की नफ़रत और ग़ुस्से को उभारता है क्योंकि उसमें वह पूँजीवादी वर्ग समाज में पूँजीपति वर्ग और उसकी पुलिस व नौकरशाही द्वारा अपने साथ किये जाने वाले बर्ताव की छवि देखते हैं।

दूसरी बात : इस नफ़रत और ग़ुस्से के परिणामस्वरूप इन फ़िल्मों का नायक यह प्रश्न नहीं उठाता है कि मौजूदा समाज में जो मज़दूर समूची धन-सम्पदा को पैदा करते हैं, हरेक चीज़ बनाते हैं, हरेक सेवा प्रदान करते हैं और समूचे देश की अर्थव्यवस्था की बुनियाद हैं, उनके साथ यह सुलूक क्यों होता है? वह यह सवाल नहीं उठाता है कि सारे कल-कारख़ानों, खानों-खदानों और खेतों-खलिहानों पर मुट्ठीभर परजीवी धन्नासेठों का क़ब्ज़ा क्यों है जो ख़ुद कुछ भी नहीं करते और जोंकों के समान मज़दूर वर्ग के शरीर पर चिपके हुए उसका ख़ून पी रहे हैं? वह मालिकों, सेठों, व्यापारियों, अपराधियों, पुलिस व सरकारी तन्त्र के अहलकारों द्वारा शोषण, उत्पीड़न, दमन और अपमान का मुक़ाबला करने के लिए अपने जैसे हज़ारों-लाखों मज़दूरों को एकजुट करने के बारे में नहीं सोचता है, जो उसी के समान इस अन्याय और अपमान का सामना कर रहे होते हैं। वह कभी समूची व्यवस्था पर कोई प्रश्न उठाता नहीं दिखता है और न ही यह सवाल पूछता है कि क्या कोई दूसरी व्यवस्था सम्भव है? क्या किसी अन्य प्रकार का समाज सम्भव है? क्या कोई ऐसा समाज नहीं बनाया जा सकता जिसमें जो मज़दूर उत्पादन करते हैं, वे ही उत्पादन के साधन के मालिक हों? क्या कोई ऐसा समाज नहीं बनाया जा सकता जिसमें कि मेहनतकश वर्ग अपनी राजसत्ता क़ायम करें

और समूचे उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे को अपनी सामूहिक मेधा और शक्ति के बूते चलायें? नहीं! आपका पुष्पा या रॉकी भाई यह सवाल कभी नहीं पूछता! तो फिर पुष्पा या रॉकी भाई क्या करता है? ऐसा प्रश्न पूछना तो दूर, वह पूँजीवादी समाज के शोषण और अन्याय के विरुद्ध आम तौर पर ही कोई सवाल नहीं उठाता है, बल्कि वह ख़ुद एक पूँजीपति बन जाना चाहता है, अपनी 'डेयरिंग' (शेरदिली) के बल पर! वह अपने साथी मज़दूरों के साथ कोई एकजुटता क़ायम कर इस अन्याय और शोषण को चुनौती देने के बारे में भी नहीं सोचता है, बल्कि ख़ुद ऐसी स्थिति में पहुँच जाना चाहता है, जहाँ स्वयं वह शोषक बन चुका हो! यह पूँजीवादी व्यक्तिवाद को मज़दूर वर्ग में बोने के लिए किया जाता है। **वर्गीय सामूहिक प्रतिरोध और संघर्ष नहीं, पूँजीपति बनने के लिए नायकवादी और व्यक्तिवादी प्रतिरोध!**

तो नायक ख़ुद एक पूँजीपति बनना चाहता है। उसे पता होता है कि हर पूँजीपति के धन के साम्राज्य की बुनियाद में अपराध, क़त्ल, धोखा और भ्रष्टाचार होता है। इसलिए वह अपराध की दुनिया से शुरुआत करता है। जब वह दर्जनों क़त्ल करके, हर प्रकार का दुराचार करके अपराध की दुनिया पर अपनी हुकूमत क़ायम कर लेता है, तब वह अपनी अपराध की दुनिया को कारोबार में तब्दील करता है। पहले यह कारोबार ग़ैर-क़ानूनी होता है। बाद में, वह अपने कारोबार को कारोबार की बारीकियाँ सीखकर क़ानूनी स्वरूप देने की तैयारियाँ करता है। इसके लिए भी उसे कई नये अपराध और हत्याएँ करनी पड़ती हैं। अन्त में, वह ख़ुद एक बड़ा पूँजीपति बन जाता है जो ख़ुद सैंकड़ों मज़दूरों और मेहनतकशों का शोषण कर रहा होता है। हाँ, वह सीधे किसी मज़दूर का अपमान नहीं करता, उसका जातिगत अपमान नहीं करता, रॉबिन हुड की तरह कई मज़दूरों और ग़रीबों की भलाई भी करता रहता है और उसके मज़दूर अपने मालिक से नफ़रत नहीं करते बल्कि प्यार करते हैं! क्योंकि वह उनके बीच से ही उठा होता है। वे भूल जाते हैं कि बेशक वह उनके बीच से उठा हो सकता है, लेकिन अब वह उनका मालिक ही है और अब वह उनकी मेहनत को लूटने का ही काम करता है और यह उनकी मेहनत ही है जो उसके कारोबारी और अपराधी साम्राज्य की बुनियाद में है। इन सबके बावजूद वह उससे प्यार करते हैं, उससे डरते हैं, उसका सम्मान करते हैं और उस पर गर्व तक करते हैं, क्योंकि वह उनके आहत अस्मितागत अहं की थोड़ी मालिश करता है। उन्हें इस बात में ही राहत और शान्ति मिलती है कि मज़दूर पृष्ठभूमि और तथाकथित निचली जाति की पृष्ठभूमि से उठने के बावजूद वह ख़ुद दुनिया का राजा बन गया और उसने अन्य पूँजीपतियों को मज़ा चखा दिया। यह दीगर बात है कि अब वह ख़ुद एक पूँजीपति के तौर पर उनका शोषण ही करता है! **लुब्बेलुआब यह कि मज़दूर की वर्गीय चेतना की जगह 'मज़दूर अस्मिता' ले लेती है जिस पर किसी मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि से उठे दबंग के ज़रिए गर्व करना सिखाया जाता है।**

ऐसी फ़िल्मों में हीरोइनों का जो चित्रण होता है, उसमें भी हम शासक वर्गों की औरतों के प्रति घटिया सोच को देख सकते हैं, जिससे हम मज़दूर भी अक्सर प्रभावित होते हैं। हीरो-हीरोइन के रिश्ते में हीरो की भूमिका हमेशा स्वामी, मालिक जैसी होती है। हीरोइन अगर घमण्डी होती है, तो फ़िल्म का एक ठीक-ठाक हिस्सा हीरो द्वारा हीरोइन के घमण्ड को तोड़ने और उसे अपने पौरुष के समक्ष समर्पण करा देने में ख़र्च किया जाता है। हीरोइन भी अन्त में ख़ुशी-ख़ुशी हीरो के स्वामित्व को स्वीकार कर लेती है। अक्सर उसके आत्मसम्मान की भावना विलेन द्वारा किसी बलात्कार के प्रयास और फिर हीरो द्वारा उसे बचा लिये जाने के प्रकरण से समाप्त होती है, जिसके बाद वह अपने सारे आत्मसम्मान को तेल लेने भेज देती है और हीरो के चरणों में समर्पित हो जाती है। नाचने और हीरो को लुभाने और ख़ुश करने के अलावा इसके बाद हीरोइन के जीवन में कुछ भी नहीं बचता है। मज़दूर वर्ग के भीतर स्त्रियों को पूँजीवादी शोषण की मशीनरी में घसीट लिये जाने के कारण जितनी आज़ादी और जनवाद मिलता है, ऐसी फ़िल्मों में उसे भी छीन लिया जाता है। एक अन्य बात जिस पर ग़ौर किया जा सकता है वह यह है कि हमारा मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि से उठा नायक अक्सर एक ऐसी नायिका को अपने "पौरुष" के बल पर जीतता है, जो स्वयं मज़दूर वर्ग से नहीं आती है, बल्कि मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय पृष्ठभूमि से आती है। नतीजतन, वर्ग अन्तरविरोध का एक मूर्खतापूर्ण समाधान पेश करने (यानी एक मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि के नायक द्वारा पौरुष के बल पर एक मध्यर्गीय या उच्चवर्गीय औरत को "जीत" लिया जाना!) के लिए भी स्त्री के शरीर को युद्ध का मैदान बनाया जाता है। जबकि सर्वहारा वर्ग की सोच यह होती है कि वह हर सामाजिक तौर पर दमित व उत्पीड़ित समुदाय की मुक्ति का समर्थन करता है और उसकी मुक्ति की लड़ाई को एक सही वर्गीय दिशा देने का प्रयास करता है।

स्त्रियों के प्रति ऐसी सोच और आम तौर पर लैंगिक व जेण्डरगत सम्बन्धों के बारे में ऐसी घटिया और घिनौनी सोच पर क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग केवल थूक ही सकता है। इस प्रकार की सोच उन प्रतिक्रियावादी और शोषणकारी शासक वर्गों की ही हो सकती है, जिनका हित शोषण समेत सामाजिक उत्पीड़न के तमाम रूपों को बनाये रखने में है, मसलन औरतों का उत्पीड़न, दलितों का उत्पीड़न, आदि। क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग स्त्रियों और पुरुषों की सच्ची समानता में यक़ीन रखता है और जानता है कि दुनिया में कोई बड़ा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन औरतों की आबादी की भागीदारी और उनके जुझारूपन के बिना नहीं हुआ है। वह वर्गयुद्ध में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने में और बराबरी में यक़ीन करता है।

लेकिन 'पुष्पा' और 'केजीएफ़' जैसी फ़िल्में मज़दूर वर्ग के दिमाग़ में भी अपनी सड़ी-गली विचारधाराओं को डालता है। निश्चित तौर पर, हम पर इसका प्रभाव पड़ता है और इसका

फ़ायदा अन्तत: मालिक वर्ग को ही होता है क्योंकि ऐसी सड़ी-गली विचारधाराओं का असर हमारे संघर्ष को भीतर से कमज़ोर बनाता है। ये फ़िल्में शुरू से अन्त तक ऐसी सड़ी-गली विचारधाराओं और प्रतिक्रियावादी मूल्यों से लबालब भरी होती हैं और इनके सभी पहलुओं की आलोचना पेश करना यहाँ सम्भव नहीं है। लेकिन इन पर हमें विस्तृत चर्चा रखनी चाहिए और समझना चाहिए कि पूँजीपति वर्ग की फ़िल्में और आम तौर पर उनकी कला हमें क्या सिखा रही है।

कला का काम हमारी चाहतों, आकांक्षाओं और उम्मीदों का चित्रण करना नहीं है, मज़दूर साथियो! नहीं! कला का काम होता है यह सिखाना कि हम क्या चाहें, किन चीज़ों की आकांक्षा करें, किन चीज़ों की उम्मीद करें। हमें बताया जाता है कि तुम पुष्पा या रॉकी भाई जैसा बनने की चाहत, आकांक्षा और उम्मीद पालो! हमें पुष्पा और रॉकी भाई की काल्पनिक कहानी ऐसे सुनायी जाती है कि हम उसमें अपने अक्स को तलाशते हैं। ढाई-तीन घण्टे हम अपने जीवन की कड़वी सच्चाइयों से दूर पलायन कर जाते हैं और पुष्पा और रॉकी भाई के रूप में पर्दे पर वह जीवन जी रहे होते हैं, जो वास्तव में हम कभी जी ही नहीं सकते। हमें वे सपने दिये जाते हैं, जो बंजर हैं। फ़िल्म में पुष्पा ज़रूर बोल सकता है कि 'अपुन झुकेगा नहीं' लेकिन हम मज़दूर जानते हैं कि अकेले हमारी कोई ताक़त नहीं है और अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में रोटी की ख़ातिर हमें क़दम-क़दम पर अपने मालिक या ठेकेदार के समक्ष झुकना पड़ता है, उनके द्वारा गाली-गलौच और अपमान को सहना पड़ता है। जब कभी हमारा ग़ुस्सा फटने को भी होता है, तो अपने मासूम बच्चे का चेहरा हमारे ज़ेहन से एक बार गुज़र जाता है, और हम रुक जाते हैं और ख़ून का घूँट पीकर हर प्रकार के अपमान और अन्याय को बर्दाश्त कर जाते हैं। क्योंकि हम जानते हैं कि मालिक वर्ग के पास पैसे, पुलिस और सरकार की ताक़त है और एक अकेले मज़दूर के तौर पर किसी भी मज़दूर की कोई औक़ात नहीं है। यह कड़वी बात है लेकिन यह सच है, आप सभी जानते हैं। लेकिन 'पुष्पा' और 'केजीएफ़' जैसी फ़िल्में हमें इस कड़वे यथार्थ से कुछ समय के लिए पलायन का एक रास्ता देते हैं, जिसमें हम असली जीवन के अन्धकार से दूर भाग जाते हैं और एक काल्पनिक जीवन को जीने की कोशिश करते हैं, जो हम वाकई कभी नहीं जी सकते क्योंकि एक अकेले मज़दूर की पूँजीपति के सामने कोई ताक़त या औक़ात नहीं है।

हमारी वास्तविक शक्ति हमारी एकजुटता में है। पूँजीपति की पैसे की ताक़त उसके सामने कुछ भी नहीं है क्योंकि अन्तत: पूँजीपति की पूँजी हमारी श्रमशक्ति के दोहन से निचोड़े गये मुनाफ़े से ही आती है। हमारी सामूहिकता के समक्ष वह कुछ नहीं कर सकता है। एक कारख़ाने के पैमाने पर, एक पेशे के पैमाने पर और पूरे देश में समूची अर्थव्यवस्था और समूचे मज़दूर वर्ग के पैमाने पर ऐसी सामूहिकता और ऐसी एकजुटता क़ायम करके ही हम अपने विरुद्ध हो रहे अन्याय और अपमान के विरुद्ध लड़ सकते हैं। लेकिन इस तरह की फ़िल्मों में इस प्रकार के रास्ते के बारे में सोचने पर ही निषेध होता है। हमें ऐसी फ़िल्म देखते हुए प्रतिरोध के इस सच्चे और व्यावहारिक रास्ते के बारे में सोचने की इजाज़त ही नहीं होती। उस समय हमें पूँजीवादी व्यक्तिवाद और नायकवाद की अफ़ीम सुंघा दी जाती है जो कि हमें कड़वे यथार्थ से पलायन कराने में मदद करती है और कुछ समय हम अपनी सच्चाई और उसके दुख से दूर भाग जाते हैं। **इसीलिए इस प्रकार की फ़िल्में वास्तव में पलायनवादी फ़िल्में हैं, जो कि हमें वास्तविकता को समझने और उस वास्तविकता के मुताबिक़ सही क़दम उठाने की दिशा में नहीं प्रेरित करती हैं, बल्कि हमें वास्तविकता को देखने से रोकने का काम करती हैं और इस रूप में पूँजीवादी विचारधारा के काम को पूरा करती हैं : हमें सच्चाई देखने से रोकने का काम।** इसी को अंग्रेज़ी भाषा में 'फ़ेटिश' कहा जाता है।

मज़दूर वर्ग को ऐसी फ़िल्मों की ज़रूरत है जो कि मौजूदा पूँजीवादी समाज में निहित शोषण, उत्पीड़न और दमन के पहलुओं को सच्चाई के साथ उजागर करें। समस्या को सही तरीक़े से पेश करने में उसके समाधान की सम्भावनाएँ भी छिपी होती हैं। यदि किसी अन्तरविरोध को सही तरीक़े से चित्रित किया जाये, सही तरीक़े से समझा जाये तो उसके समाधान की बात को उपदेश के समान पेश करने की कोई ज़रूरत नहीं होती है और न ही कला का यह काम होता है कि हर फ़िल्म के अन्त में क्रान्ति के रास्ते की रूपरेखा पेश कर दी जाये। वास्तव में, कला का पहला कार्य है यथार्थ का ईमानदार चित्रण करना, सही प्रातिनिधिक तथ्यों की पहचान करना जो कि यथार्थ के सारतत्व को पेश करते हों। मसलन, किसी एक मज़दूर का पूँजीपति बन जाना सम्भव है और यह समूचे सामाजिक यथार्थ का हिस्सा हो सकता है। लेकिन यह सामाजिक यथार्थ का कोई प्रातिनिधिक हिस्सा नहीं है। मसलन, कोई बच्चा एक हाथ में छह उंगलियों के साथ पैदा हो, तो यह सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है कि मनुष्यों के एक हाथ में छह उंगलियाँ होती हैं!

पूँजीवादी कला अप्रातिनिधिक यथार्थ के किसी एक पहलू को उठाकर उसका सामान्यीकरण करती है और फिर हमें विशेष प्रकार की चाहतें, आकांक्षाएँ और सपने पालने के लिए प्रशिक्षित करती है, जो कि पूँजीपति वर्ग के लिए फ़ायदेमन्द हो। सर्वहारा वर्ग की कला समूचे सामाजिक यथार्थ के सारतत्व को पकड़ती है क्योंकि वह उसके प्रातिनिधिक पहलुओं को पकड़ती है, उनका कलात्मक अमूर्तन और सामान्यीकरण करती है। इसलिए वह सच के साथ खड़ी होती है। इसीलिए वह अन्तरविरोधों को सही रूप में पेश कर सकती है। और इसीलिए उसे अन्त में क्रान्ति के बारे में उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि अन्तरविरोधों का उसका सही और सटीक चित्रण स्वत: ही हमें अन्तत: सही दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करता है।

(पेज 17 पर जारी)

विश्व पटल

एमसीसी: नेपाल में चीन के प्रभाव को प्रतिसन्तुलित करने वाली अमेरिकी साम्राज्यवादी परियोजना

आनन्द

फ़रवरी के महीने में नेपाल के विभिन्न हिस्सों में विवादास्पद अमेरिकी साम्राज्यवादी परियोजना मिलेनियम चैलेंज कॉरपोरेशन (एमसीसी) के ख़िलाफ़ उग्र विरोध-प्रदर्शन हो रहे थे क्योंकि अमेरिकी सरकार ने इस परियोजना को नेपाल की संसद द्वारा मंज़ूरी देने की अन्तिम तारीख़ 28 फ़रवरी तय की थी। परन्तु इन विरोध-प्रदर्शनों के बावजूद 27 फ़रवरी को नेपाल की संसद ने चन्द व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ इस परियोजना का अनुमोदन कर दिया। इस परियोजना को मंज़ूरी देने के पक्ष में वोट करने वाली पार्टियों में नेपाली कांग्रेस, प्रचण्ड के नेतृत्व वाली नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी केन्द्र), माधव कुमार नेपाल के नेतृत्व वाली नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (एकीकृत समाजवादी) और बाबूराम भट्टराई व उपेन्द्र यादव के नेतृत्व वाली जनता समाजवादी पार्टी शामिल थीं जो सत्तारूढ़ गठबन्धन का हिस्सा भी हैं। ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि के.पी. शर्मा ओली के नेतृत्व वाली विपक्षी पार्टी नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (एकीकृत मार्क्सवादी-लेनिनवादी) ने भी एमसीसी के ख़िलाफ़ वोट नहीं किया बल्कि उसने वोटिंग में हिस्सा ही नहीं लिया।

क्या है एमसीसी?

मिलेनियम चैलेंज कॉरपोरेशन (एमसीसी) अमेरिका की एक विदेशी द्विपक्षीय अनुदान प्रदान करने वाली एक संस्था है जिसे अमेरिकी संसद द्वारा 2004 में स्थापित किया गया था। इसके तहत अमेरिका दुनिया के सबसे पिछड़े देशों में बुनियादी ढाँचे के विकास में मदद के लिए अनुदान देता है और इस अनुदान के ज़रिये उन देशों में अपने साम्राज्यवादी हितों को आगे बढ़ाने का काम करता है। इसी परियोजना के तहत नेपाल में मुख्य रूप से सड़क और बिजली से सम्बन्धित बुनियादी ढाँचे के विकास के लिए 500 मिलियन डॉलर के अनुदान को नेपाल की संसद ने मंज़ूरी दी है। इसके तहत नेपाल के लप्सिदी-गल्छी-दमौली-सुनवल कॉरिडोर में 400 केवी की ट्रांसमिशन लाइन और मेची, कोशी, त्रिभुवन राजपथ, पूर्व-पश्चिम हाईवे और सगरमाथा तक 300 किलोमीटर की सड़क के निर्माण की योजना है। ग़ौरतलब है कि नेपाल ने एमसीसी के तहत अनुदान प्राप्त करने के लिए वर्ष 2012 में आवेदन किया था जब बाबूराम भट्टराई वहाँ के प्रधानमन्त्री थे। वर्ष 2017 में नेपाल की सरकार और एमसीसी के बीच औपचारिक रूप से समझौते पर हस्ताक्षर किया गया था और नेपाल की संसद द्वारा इस समझौते का अनुमोदन करने की अन्तिम तिथि 28 फ़रवरी 2022 तय की गयी थी।

क्यों हो रहा है एमसीसी का विरोध?

हालाँकि नेपाल के प्रमुख राजनीतिक दलों ने एकजुट होकर एमसीसी को पारित करा दिया, परन्तु नेपाल के कई छोटे दलों और तमाम सामाजिक व राजनीतिक संगठनों तथा छात्र-युवा संगठनों ने इसके ख़िलाफ़ उग्र विरोध प्रदर्शन किये और कुछ छिटपुट प्रदर्शन अभी भी जारी हैं। एक विडम्बनापूर्ण स्थिति यह देखने में आयी कि एक तरफ़ प्रचण्ड की पार्टी ने संसद में एमसीसी के पक्ष में वोट दिया वहीं दूसरी ओर उनकी पार्टी से सम्बद्ध छात्र संगठन सड़कों पर उतरकर एमसीसी के ख़िलाफ़ जारी विरोध प्रदर्शन में शमिल हो रहा था।

एमसीसी के विरोधियों का कहना है कि एमसीसी समझौते के लागू होने के बाद नेपाल की सम्प्रभुता ख़तरे में पड़ सकती है। एमसीसी नेपाल समझौते के अनुभाग 7.1 के अनुसार "इस समझौते के लागू होने के बाद इसे नेपाल के घरेलू क़ानूनों पर वरीयता मिलेगी।" ग़ौरतलब है कि एमसीसी अमेरिका की इण्डो-पेसिफ़िक रणनीति का एक हिस्सा है जो चीन की घेरेबन्दी के लिए तैयार की गयी है। विरोधियों का यह भी कहना है कि नेपाल की सरकार ने अमेरिका की सरकार के दबाव में आकर इस समझौते का अनुमोदन किया है। इसके अतिरिक्त एमसीसी का एक असर बिजली और सड़क जैसे बुनियादी ढाँचे के निर्माण के क्षेत्र में निजीकरण को बढ़ावा देने के रूप में भी सामने आयेगा।

एमसीसी के ख़िलाफ़ चल रहे विरोध प्रदर्शनों की आग पर ठण्डा पानी डालने के लिए नेकपा (माओवादी केन्द्र) के प्रचण्ड ने प्रधानमन्त्री शेर बहादुर देउबा द्वारा प्रस्तावित एमसीसी के प्रावधानों में चन्द व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ उसे स्वीकार कर लिया। इस प्रकार प्रचण्ड एकबार फिर नेपाल के पूँजीपति वर्ग के लिए संकटमोचन साबित हुए। एमसीसी की व्याख्यात्मक टिप्पणियों में यह स्पष्ट किया गया है कि वह इण्डो-पेसिफ़िक रणनीति सहित किसी भी अमेरिकी रणनीतिक, सैन्य या सुरक्षा नीति का हिस्सा नहीं है। इसके अतिरिक्त इन टिप्पणियों में यह भी कहा गया है कि नेपाल का संविधान सर्वोपरि है और एमसीसी के अनुदान का उपयोग करके नेपाल के संविधान के किसी प्रावधान या क़ानून के ख़िलाफ़ काम नहीं किया जा सकता है। लेकिन ये

दावे कितने सच साबित होंगे यह समय ही बतायेगा।

नेपाल में अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए अमेरिकी और चीनी साम्राज्यवादियों के बीच जारी होड़

एमसीसी प्रकरण नेपाल में घुसपैठ के लिए अमेरिकी और चीनी साम्राज्यवादियों की बढ़ती होड़ को दिखाता है। हाल के वर्षों में एक उभरते हुए साम्राज्यवादी देश के रूप में चीन अमेरिका को आर्थिक व सामरिक दृष्टि से ज़बरदस्त चुनौती दे रहा है जिसकी वजह से अमेरिकी विदेश नीति का मुख्य ज़ोर चीन के बढ़ते प्रभाव को कम करने पर है। अमेरिका इण्डो-पेसिफ़िक रणनीति के तहत इण्डो-पेसिफ़िक क्षेत्र के तमाम देशों के साथ सामरिक और सैन्य समझौते कर रहा है ताकि चीन को घेरा जा सके। एमसीसी भी इसी रणनीति का एक अंग है। एमसीसी के अनुमोदन पर नेपाल की संसद में वोटिंग से पहले चीन ने नेपाल पर यह दबाव बनाने की कोशिश की कि वह एमसीसी को मंज़ूरी न दे क्योंकि एमसीसी अमेरिकी अनुदान की आड़ में एक रणनीतिक और सैन्य हस्तक्षेप का हथकण्डा है। परन्तु नेपाल की सरकार ने चीन के दबाव के बावजूद एमसीसी को मंज़ूरी दे दी। यह दिखाता है कि नेपाल का पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवादियों के बीच की प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाने की कोशिश कर रहा है। ग़ौरतलब है कि नेपाल ने वर्ष 2017 में ही चीन की महत्वाकांक्षी योजना बोल्ड एण्ड रोड इनीशिएटिव (बीआरआई) का भी हिस्सा बनने का फ़ैसला किया था जिसके तहत चीन नेपाल के दुर्गम पहाड़ी इलाक़ों में सड़क जैसे बुनियादी ढाँचे के विकास में मदद करेगा। एमसीसी परियोजना को नेपाली संसद द्वारा मंज़ूरी देने के बाद चीन के विदेश मन्त्री वांग यी ने नेपाल की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान वांग यी से मुलाक़ात के बाद नेपाल प्रधानमन्त्री शेर बहादुर देउबा के कार्यालय की ओर से एक बयान जारी किया गया। जिसमें कहा गया कि प्रधानमन्त्री ने नेपाल की आर्थिक प्राथमिकता पर ज़ोर देते हुए चीन के विदेश मन्त्री को यह बताया कि नेपाल चीन से क़र्ज़ के रूप में विकास परियोजनाओं में मदद की बजाय अनुदान के रूप में मदद की अपेक्षा करता है। इस बयान से भी स्पष्ट है कि नेपाल का शासक वर्ग साम्राज्यवादियों के बीच के अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर अपने देश में बुनियादी ढाँचे का निर्माण करने की रणनीति आज़मा रहा है। वांग यी की नेपाल यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच आर्थिक और प्रौद्योगिकी क्षेत्र में सहयोग से सम्बन्धित नौ दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर किये गये जिसमें नेपाल में रेलवे के विकास में चीन का सहयोग शामिल है।

अमेरिकी परियोजना एमसीसी को नेपाली संसद द्वारा मंज़ूरी मिलने से भारत का शासक तबक़ा भी ख़ुश है क्योंकि इससे नेपाल में चीन के प्रभुत्व को चुनौती मिलेगी। भारत का शासक वर्ग अपने हितों के मद्देनज़र नेपाल में चीन के प्रभुत्व को चुनौती देना चाहता है। सामरिक हितों के साथ ही साथ एमसीसी के लागू होने से भारत का शासक वर्ग इस परियोजना में अपने आर्थिक हित भी देख रहा है क्योंकि एमसीसी के लागू होने के बाद नेपाल से उसकी कनेक्टिविटी बढ़ेगी जिससे उसे अपने मालों का निर्यात करने में आसानी होगी। इसके अलावा एमसीसी के तहत नेपाल में उत्पादित होने वाली बिजली का आयात करके ऊर्जा की अपनी बढ़ती ज़रूरत पूरा करने में मदद मिलेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नेपाल की विशेष भू-राजनीतिक स्थिति (भारत और चीन के बीच) की वजह से चीन, अमेरिका और भारत उसपर अपना-अपना प्रभुत्व बढ़ाना चाह रहे हैं। साथ ही नेपाल के शासक वर्ग का अभी तक जो रवैया देखने में आया है, उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वह इनमें से किसी की भी कठपुलती बनने के लिए तैयार है। इसके उलट देखने में यह आ रहा है कि नेपाल का पूँजीपति वर्ग अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर अपने हितों की पूर्ति करने की कोशिश कर रहा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस रणनीति के अपने अन्तरविरोध भी हैं क्योंकि जैसाकि पाकिस्तान और श्रीलंका के मामलों में देखने में आ रहा है, आर्थिक स्वावलम्बन की बजाय विदेशी अनुदान व क़र्ज़ों पर निर्भरता नेपाल को भी आर्थिक-राजनीतिक अस्थिरता और संकट की ओर धकेल सकती है। ●

(पेज 15 से जारी)

वास्तव में कौन सही दिशा में सोचता है या सोच सकता है, यह उस व्यक्ति की वस्तुगत सामाजिक व राजनीतिक वर्गीय अवस्थिति पर भी निर्भर करता है। लेकिन निश्चित ही सर्वहारा कला यथार्थ के एक सटीक, ईमानदार और वैज्ञानिक चित्रण के ज़रिए समाज की प्रातिनिधिक सच्चाइयों और उसके अन्तरविरोधों को समझने में हमारी मदद करती है।

'पुष्पा', 'केजीएफ़' आदि जैसी फ़िल्में इसका ठीक उल्टा काम करती हैं। वे ख़ास तौर पर ख़तरनाक इसलिए हैं क्योंकि उनकी विषयवस्तु किसी एनआरआई अमीर भारतीय का प्रेम प्रसंग नहीं है, बल्कि एक ऐसा नायक है जो स्वयं मज़दूर वर्ग से आता है और फिर कहानी उसे पूँजीपति बना देती है और इस वजह से ऐसी फ़िल्मों का ऊपर बताये गये कारणों से हम मज़दूरों और विशेषकर हमारे नौजवानों पर काफ़ी असर होता है। इसके बारे में एक आलोचनात्मक दृष्टि देना हमारे लिए ज़रूरी है। ज़ाहिर है, मौजूदा लेख में हम इन फ़िल्मों की विस्तृत सैद्धान्तिक और कलात्मक आलोचना नहीं पेश कर सकते और कुछ विशिष्ट पहलुओं की ओर संकेत करके ही हमें सन्तोष करना पड़ा है। इस लेख में हमारा उद्देश्य बहुत ही विनम्र है : इन फ़िल्मों के सामाजिक प्रकार्य को चित्रित करना और उसके ज़रिए पूँजीपति वर्ग द्वारा बेची जा रही कला के सामाजिक प्रकार्य को आम तौर पर चिह्नित करना। आगे हम अलग-अलग फ़िल्मों के माध्यम से इस विषय पर और विस्तार से भी लिखने का प्रयास करेंगे।

(यह लेख 'मज़दूर बिगुल' अख़बार के जुलाई अंक में प्रकाशित हुआ था। छात्रों-युवाओं के लिए इसकी प्रासंगिकता देखते हुए हमने इसे साभार लिया है।)

विज्ञान

जीवन का उद्भव और उद्विकास को समझने की ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रस्तावना

सनी

जीवन और मृत्यु के प्रश्न पर चिन्तन करते हुए ल्युक्रिटस लिखते हैं:

मुड़कर देखो पीछे फिर से, कैसे अन्तहीन वक़्त गुज़रता है
हमारे जन्म से पहले कुछ नहीं था हमारे लिए,
एक आईना लिए क़ुदरत हमारे सामने खड़ी है
जिसमें आने वाला वक़्त दिखलाई पड़ता है
जब हम ख़त्म हो जाएंगे।
इसमें भयंकरता कैसी है?
ऐसी त्रासदी क्या है?
क्या यह किसी भी नींद से शान्त नहीं?

ल्युक्रिटस जन्म से पहले वक़्त को और मृत्यु के बाद वक़्त को एकरूप कर पेश करते हैं। 'शान्त नींद' एक काव्यात्मक बिम्ब है। यह काव्यात्मक बिम्ब इस प्रश्न पर केवल भावनात्मक उत्तर देने का प्रयास करता है। प्राकृतिक वैज्ञानिक सवाल का सटीक जवाब ढूँढता है कि वास्तव में जीवन से पहले क्या था। हमने लेख की पिछली कड़ी में उद्विकास पर एक परिचयमूलक बात रखते हुए इस बिन्दु पर ही बात ख़त्म की थी कि उद्विकास के प्रश्न के लिए उद्भव को जानना बेहद ज़रूरी बन जाता है। यानी जीवन के रूपों के विकास को यानी जीवन के इतिहास को समझने के लिए हमें उद्भव को समझना होगा। इस प्रश्न को ल्युक्रिटस से लेकर अरस्तु ने और आधुनिक काल में डारविन ने भी उठाया है। जीवन का उद्भव कैसे हुआ या इस पूरी सृष्टि का उद्भव कैसे हुआ एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। डारविन ने भी इसपर अपनी बात रखते हुए कहा कि

"हमें यह स्वीकार करना होगा कि मनुष्य अपने तमाम उच्चतर गुणों के साथ... अपने निम्न उद्भव की अमिट छाप अपने शारीरिक संरचना में लिए रहता है।" (डारविन, डिसेण्ट ऑफ़ मैन, 1871)

लाखों प्रजातियाँ आख़िर अस्तित्व में कैसे आयी हैं? क्या जीवन हर क्षण पैदा हो रहा है? या यह एक ख़ास वक़्त में पैदा हुआ और उसके बाद से उद्विकास जारी है? और अगर यह एक ख़ास वक़्त में पैदा हुआ तो कैसे हुआ? इस सवाल को समझने के लिए हमें उद्भव को समझना होगा।

धार्मिक ग्रन्थ और मिथकीय अवधारणाएँ धरती के उद्भव को ईश्वरीय चमत्कार के रूप में समझाती हैं। उद्भव क्रिएशन की क्रिया या ईश्वरीय सृजन के चमत्कार से है। ऐसा ईश्वरीय हस्तक्षेप कारणों को ढूँढने की इजाज़त ही नहीं देता है। मसलन न्यूटन कहते हैं कि धरती को सूरज के चारों ओर चक्कर काटने के लिए 'आरम्भिक संवेग' ईश्वर ने दिया। धार्मिक विश्वदृष्टिकोण में हर अनसुलझे कारण के पीछे ईश्वर ही होता है। ब्रह्माण्ड का उद्भव, सूरज का उद्भव, धरती का उद्भव, जीवन का उद्भव से लेकर मानव के उद्भव का सवाल धार्मिक मकड़जाल के रहस्य में उलझ जाता है। परन्तु आज हमें जो तस्वीर दी जाती है कि हमारा अतीत केवल धर्म, कर्मकाण्डों और अन्धविश्वासों में डूबा नहीं था। प्राक् इतिहास के पन्नों को पलटें तो हम पाएंगे कि आधुनिक विज्ञान का आधार हमारे पुरखों ने क़दम-दर-क़दम रखते हुए खड़ा किया। एग्स गोरस, कणाद, ल्युक्रिटस से लेकर अरस्तु ने इस अवधारणा पर सही नज़रिये से लिखा।

पहुँच और पद्धति का प्रश्न

प्राकृतिक विज्ञान का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह मानना है कि पदार्थ और चेतना में पदार्थ प्राथमिक होता है। चेतना पदार्थ का ही गुण होती है। आधुनिक जीवविज्ञान इसे साबित कर चुका है। पदार्थ के अस्तित्व को चेतना से स्वतन्त्र तौर पर स्वीकारना ही पूरे प्राकृतिक विज्ञान की बुनियाद है। दूसरा प्रकृति, समाज और विचार में परिवर्तन द्वन्द्वात्मक होता है। द्वन्द्ववाद का आशय वस्तुओं को प्रक्रियाओं के रूप में देखना है। विपरीत तत्वों की एकता यानी अन्तरविरोध की मौजूदगी का होना है। पुराने का नष्ट होना, छलाँग लगाकर द्रुत परिवर्तन और नये का जन्म होना तारों, पेड़ों, परमाणु से लकर पूरे ब्रह्माण्ड में जारी रहता है।

उद्भव का अर्थ नयी प्रक्रिया का जन्म है। यह नयी प्रक्रिया ख़ुद प्रकृति के मौजूदा रूप में, धरती, जीवन, समाज या विचार हो सकते हैं। उद्भव का सवाल नये का पैदा होना है। रोमन साम्राज्य के यूनानी इपीक्युरियन दार्शनिक ल्युक्रिटस ने कहा कि जन्म से पहले कुछ भी नहीं था और उसके बाद भी कुछ नहीं होगा। हर एक प्रक्रिया का उद्भव और उसका अन्त उसे व्याख्यायित करता है। जीवन को द्वन्द्वात्मक तरीक़े से देखने का नज़रिया यूनानी दर्शन और भारतीय दर्शन में भी मौजूद था। एनेग्ज़िमेण्डर ने कहा कि जहाँ से चीज़ों का उद्भव होता है वहीं से उनका विध्वंस भी होता है। अरस्तु कहते हैं कि जो भी अस्तित्व में आया है उसका अन्त होना चाहिए। आदिम यूनानी दर्शन में वस्तुओं को प्रक्रिया के रूप में देखने का नज़रिया मौजूद है। भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन में

इतना ही उन्नत द्वन्द्ववाद मौजूद है।

जन्म और अन्त की अवधारणा के साथ ही यूनानी दर्शन के अनुसार उद्भव कैओस (अव्यवस्था) से हुआ था। एनेग्ज़िमेण्डर के अनुसार पूरे ब्रह्माण्ड का उद्भव एक 'अपरिमित' प्राथमिक पदार्थ (substratum) से हुआ। पदार्थ में नैसर्गिक तौर पर अविरल गति मौजूद होती है। प्राथमिक पदार्थ की आन्तरिक चक्रीय गति की वजह से कुछ हिस्से बाहर परिधि तक पहुँचते हैं जहाँ वे अनगिन का चक्र बनाते हैं और वायु का एक अन्दरूनी चक्र बनाते हैं तथा बाकी हिस्से केन्द्र में एकत्रित हो जाते हैं। इनमें निरन्तर विकास विपरीत तत्वों का टकराव के जारी रहने से होता है। यह टकराहट गर्म-ठण्डा, गीला-सूखा हल्का-भारी के रूप में जारी रहती है। यह संघर्ष ही मौसम के चक्र को जन्म देता है जिसमें ब्रह्माण्ड घूम रहा है। इस दृष्टिकोण को हैराक्लिटस व्यक्त करते हैं:

"समस्त जग
न ही मनुष्य ने बनाया है
और न ही ईश्वर ने
पर वह था, है
और रहेगा एक जीवित ज्वाला,
कभी देदीप्य मान धधकती हुई,
तो कभी तिमिरांकित बुझती हुई।"

देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय बताते हैं कि सांख्य दर्शन में, न्याय-वैशेषिक व बौद्ध दर्शन में भी 'द्वन्द्व' को देखा जा सकता है। जीवन और मृत्यु को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। हमारे पुरखों के एक धड़े ने भी उद्भव को पारलौकिक शक्ति में नहीं बल्कि इहलौकिक कारणों में ढूँढा। हालांकि उद्भव के प्रश्न पर प्राक् काल में दार्शनिकों के पास ठोस जवाब मौजूद नहीं था और हो भी नहीं सकता था। यह एक बेहद सटीक अन्दाज़ा था न कि तथ्यों से स्थापित विज्ञान। यह सतही ज्ञान परिघटनाओं के सीमित उत्पादक व्यवहार का नतीजा था। सही नज़रिया यानी आधुनिक भौतिकवाद 19वीं शताब्दी तक ही एक प्रक्रिया में विकसित हो सकता था। आधुनिक नज़रिये के विकास में छलांग तब लगती है जब कोशिका को खोज लिया जाता है, ऊर्जा के रूपान्तरण का नियम और उद्विकास की अवधारणा विकसित हो जाती है। इसके बाद ही प्राकृतिक विज्ञान का सही विश्व दृष्टिकोण विकसित हो सका। इसके साथ ही उद्भव के प्रश्न पर भी सही समझदारी हासिल की जा सकी। केवल यह समझना काफ़ी नहीं है कि चीज़ें बदल रही हैं बल्कि उस बदलाव को उसकी विशिष्टता में भी समझना ज़रूरी होता है। ऐसे ही हमें जीवन, धरती, मनुष्य, पहाड़ों और तारों के उद्भव के बारे में पता चला। इसके बाद ही हम आम तौर पर उद्भव के बारे में बात कर सकते हैं।

किसी भी नयी प्रक्रिया के उद्भव को समझने के लिए हमें पहले तो प्रक्रिया के आन्तरिक अन्तरविरोध और उसकी गति को व्याख्यायित करना होगा। दूसरा हमें पुरानी प्रक्रिया के ख़त्म होने और नयी प्रक्रिया के जन्म को समझाने वाले द्वन्द्ववाद के नियम 'निषेध का निषेध' को समझना होगा। द्वन्द्ववाद की यह दोनों विवेचना हमें उद्विकास की अवधारणा और प्राकृतिक विज्ञान के तमाम सिद्धान्तों को भी समझने में मदद देगी।

किसी प्रक्रिया के आन्तरिक अन्तरविरोध की पड़ताल और उसकी गतिकी को समझने की सही पहुँच और सही पद्धति कार्ल मार्क्स की रचना 'पूँजी' में मिलती है। यह रचना प्राकृतिक विज्ञान के लिए भी हर प्रक्रिया के जन्म और उसके अन्तरविरोधों की पड़ताल का मॉडल देती है।

इस पर ही चर्चा करते हुए माओ कहते हैं कि:

"किसी नयी प्रक्रिया के उदय होने का क्या तात्पर्य है? इसका तात्पर्य है कि जब कोई नयी एकता तथा उसके संघटक विपरीत तत्व किसी पुरानी एकता और उसके संघटक विपरीत तत्वों का स्थान लेते हैं, तो पुरानी प्रक्रिया के स्थान पर एक नयी प्रक्रिया का उदय होता है। पुरानी प्रक्रिया का अन्त हो जाता है और नयी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस नयी प्रक्रिया में नये अन्तरविरोध होते हैं, और उसके अपने अन्तरविरोधों के विकास का इतिहास शुरू हो जाता है।

जैसा कि लेनिन ने बताया था, मार्क्स ने अपनी पुस्तक "पूँजी" में अन्तरविरोधों की उस गति का आदर्श विश्लेषण किया है जो वस्तुओं के विकास की प्रक्रिया में शुरू से अन्त तक बनी रहती है। यह एक ऐसा तरीका है जिसे सभी वस्तुओं के विकास की प्रक्रिया के अध्ययन में लागू करना चाहिए। लेनिन ने ख़ुद भी इस तरीक़े को सही ढंग से लागू किया था और अपनी सभी रचनाओं में इसे अपनाया था।

"पूँजी" नामक अपनी रचना में मार्क्स पहले पूँजीवादी (तिजारती माल वाले) समाज के सबसे सरल, सबसे साधारण और बुनियादी, सबसे अधिक प्रचलित और रोज़मर्रा के सम्बन्ध का विश्लेषण करते हैं, एक ऐसे सम्बन्ध का जो करोड़ों बार देखने में आता है, यानी माल का विनिमय। इस अति–साधारण घटना (पूँजीवादी समाज की इस "कोशिका") में यह विश्लेषण आधुनिक समाज के सभी अन्तरविरोधों को (या सभी अन्तरविरोधों के बीजों को) व्यक्त कर देता है। बाद की व्याख्या हमें इन अन्तरविरोधों के और इस समाज के, जो अपने अलग–अलग अंशों की (समष्टि) है, शुरू से अन्त तक के विकास (वृद्धि तथा गति दोनों ही) से अवगत कराती है।

लेनिन ने आगे कहा: "द्वन्द्ववाद की व्याख्या (या अध्ययन) का भी सामान्यतया यही तरीका होना चाहिए।"''(माओ, अन्तरविरोध के बारे में)

मार्क्स का यह अध्ययन प्राकृतिक जगत में किसी भी परिघटना के उद्भव को उसके विकसित होने की प्रक्रिया को समझने का प्रारूप देता है। मार्क्स बताते हैं कि मुद्रा रूप में मौजूद अन्तरविरोध माल के बुनियादी रूप आकस्मिक या साधारण रूप में ही मौजूद होते हैं। किसी भी परिघटना का सार अन्तरविरोधों की परस्पर टकराहट होती है। अन्तरविरोध का जन्म और उसका विस्तार ही उसके सबसे जटिल रूपों को समझा सकता है। यह अन्तरविरोध किस तरह विकसित होता है? मार्क्स बताते हैं कि:

"मालों के विनिमय के लिए कुछ परस्पर विरोधी और एक दूसरे का अपवर्जन करनेवाली परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं।

जब मालों में माल और मुद्रा का भेद पैदा हो जाता है, तब उससे ये असंगतियाँ दूर नहीं हो जाती, बल्कि उससे एक ऐसी मॉडस विवेण्डी, या यूँ कहिये कि एक ऐसा रूप निकल पाता है, जिसमें ये असंगतियाँ साथ-साथ क़ायम रह सकती हैं। आम तौर पर वास्तविक विरोधों का इसी तरह समाधान किया जाता है। मिसाल के लिए किसी वस्तु के बारे में यह कहना एक परस्पर विरोधी बात है कि वह लगातार किसी दूसरी वस्तु की ओर गिर भी रही है और साथ ही लगातार उससे दूर भी होती जा रही है। परन्तु दीर्घवृत्त गति (elliptical motion) का एक ऐसा रूप है, जो इस विरोध को बनाये भी रखता है और साथ ही उसका समाधान भी कर देता है।"(मार्क्स, पूँजी खण्ड-1)

मार्क्स के उदाहरण से ही यह बात स्पष्ट है कि अन्तरविरोध की यह गतिकी केवल राजनीतिक अर्थशास्त्र तक ही सीमित नहीं है। यह प्रकृति पर भी लागू होती है। एंगेल्स बताते हैं कि:

"जीवन के हर क्षण में पेड़, जानवर, हर कोशिका ख़ुद अपने जैसे हैं और ख़ुद से अलग भी हो रहे हैं। तत्वों को सोखकर और उगलकर, श्वसन से, कोशिका के बनने और ख़त्म होने से, चक्रीय परिवर्तनों की प्रक्रियाओं में यह जारी रहता है, संक्षेप में यह प्रक्रिया उन तमाम आणविक परिवर्तनों का कुल जमा जोड़ होती है जिससे जीवन बनता है और जिसका नतीजा हमारी आँखों के सामने - भ्रूण, युत्वज, यौनिक परिपक्वता, पुनरूत्पादन, बुढ़ापा और मृत्यु में जीवन के भिन्न चरणों के रूप में दिखायी देता है।

जैसे-जैसे शरीरक्रिया विकसित होती है निरन्तर, अनन्त सूक्ष्म परिवर्तन इसके लिए ज़रूरी बन जाते हैं और इस प्रकार ही एकरूपता में अन्तर को समझना ज़रूरी बन जाता है तथा जैविक प्राणी को केवल स्वयं के एकरूप तथा अपरिवर्तनीय मानने वाली औपचारिक एकरूपता की यह अमूर्त अवधारणा पुरानी पड़ जाती है।" (एंगेल्स , प्रकृति का द्वन्द्ववाद)

दूसरा हमें द्वन्द्ववाद के जिस नियम से परिचित होने की ज़रूरत है वह निषेध का निषेध है। एंगेल्स ने बताया कि एक प्रक्रिया में अन्तरविरोध के एक प्रक्रिया में जन्मने और उसके नयी प्रकिया में तब्दील होने की प्रक्रिया निषेध के निषेध के ज़रिये घटित होती है। एंगेल्स कहते हैं कि:

"वास्तव में यह एक बहुत ही सरल सी प्रक्रिया है, जो हर स्थान पर और प्रति दिन होती रहती है। यदि उस पर पड़े हुए रहस्य के उस आवरण को हटा दिया जाये, जिसके द्वारा पुराने भाववादी दर्शन ने उसे ढाँक रखा था और जिसको उस पर डाले रखना ड्यूहरिंग जैसी योग्यता रखने वाले असहाय अधिभूतवादियों के हित में है, तो कोई भी बच्चा समझ सकता है। जौ का एक दाना लीजिये। इस तरह के अरबों दाने पीसकर उबालकर और उनकी बीयर बनाकर इस्तेमाल किये जाते हैं। लेकिन यदि इस तरह के एक दाने को उस तरह की परिस्थितियों में ले जायें, जो उसके लिये सामान्य हैं, यदि वह उपयुक्त ढंग की मिट्टी पर जा पड़े, तो गरमी और नमी के असर से उसमें एक विशिष्ट प्रकार का परिवर्तन हो जायेगा। अर्थात् उसमें अंकुर निकल आयेगा तब उस दाने का अस्तित्व नहीं रहता, उसका निषेध हो जाता है, और उसके स्थान पर वह पौधा नज़र आता है, जो इस दाने से पैदा हुआ है, पर जो इस दाने का निषेध है। किन्तु पौधे की सामान्य जीवन क्रिया कैसे चलती है? वह बढ़ता है, उस पर फूल आते है, उसका निषेचन होता है, और अन्त में एक बार फिर वह जौ के दानों को जन्म देता है और जैसे ही दाने पककर तैयार होते हैं वैसे ही पौधे का धड़ सूखकर मर जाता है अर्थात पौधे की बारी आने पर उसका भी निषेध हो जाता है। निषेध के इस निषेध के फलस्वरूप एक बार फिर हमें वह जौ का दाना मिल जाता है, लेकिन इस बार एक दाना नहीं, बल्कि पहले के दसगुने बीसगुने या तीसगुने दाने हमारे हाथ में होते हैं।'' (एंगेल्स, ड्यूहरिंग मत खण्डन)

'विपरीत तत्वों' की एकता का नियम ही ठोस रूप में निषेध का निषेध के रूप में अभिव्यक्त या विस्तारित होता है। यहाँ हमारा यह चर्चा करना इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि सारे उदाहरण हमें जीवन के उद्भव और उद्विकास को समझने में बेहद कारगर होंगे। फल, नेब्यूला और साधारण माल निषेध का निषेध में एक समान ही होते हैं क्योंकि ये नयी प्रक्रिया के उद्गम बिन्दु होते हैं। प्लेखानोव बताते हैं कि "फल यानी कि उर्वीरत अण्डाणु जीव का निषेध होता है क्योंकि इसमें नये जीवन के उद्गम बिन्दु बनने की सम्भावना होती है।"

इंटिग्रल कैलकुलस, खगोलशास्त्र, दर्शन, जीवन और इतिहास से लेकर हर प्रक्रिया में विकास का यही तरीका है। हालांकि इसका यह मतलब नहीं कि बीज का विकास मानव इतिहास सरीखा है। आम तौर पर प्रक्रियाएँ अपने उद्भव और विकास में निषेध का निषेध के अनुरूप निर्देशित होती हैं परन्तु हर प्रक्रिया की विशिष्टता के अनुसार। यह नियम द्वन्द्व को मूर्त तौर पर लागू करता है। निषेध का मतलब नष्ट करना नहीं है। एंगेल्स समझाते हैं कि:

"द्वन्द्ववाद में निषेध का अर्थ केवल इन्कार कर देना, या यह घोषणा कर देना नहीं है कि अमुक वस्तु नहीं है या किसी वस्तु को मनचाहे ढंग से नष्ट कर देना भी निषेध नहीं है। बहुत दिन पहले स्पिनोजा ने कहा था: Omnis determinatio est negatio प्रत्येक सीमांकन अथवा निर्धारण साथ ही निषेध भी होता है।" (एंगेल्स , ड्यूहरिंग मत खण्डान)

निषेध का निषेध प्रकृति की कुण्डलाकार गति को ही व्याख्यायित करता है। विपरीत तत्वों की एकता ही द्वन्द्ववाद का बुनियादी नियम है। यह परिवर्तन का मूल कारण है। लेकिन परिवर्तन के फलस्वरूप नये चरण का उदय होता है और यह नया चरण समाज, प्रकृति या विचारों के कुण्डलाकार विकास में एक नयी मंज़िल होती है। यह पिछली मंज़िल की विपरीत नहीं होती। जीवन के उद्भव और उसके विकास को इस नज़रिये से ही समझा जा सकता है। हम आगे यह पुष्ट करेंगे कि जीवन के उद्गम और उद्विकास की प्रक्रिया में निषेध का निषेध द्वन्द्ववाद का आम नियम है। जीवन के मौजूदा रूपों में उन रूपों का अंश मौजूद है जिसके निषेध से जीवन विकसित हुआ है। एंगेल्स बताते हैं कि: "जिस प्रकार माँ के गर्भ में मानव भ्रूण के विकास का इतिहास करोड़ों वर्षों में फैले हमारे पशु पूर्वजों के केंचुए से आरम्भ करके अब तक

के शारीरिक विकास के इतिहास की संक्षिप्त पुनरावृत्ति है, उसी प्रकार मानव शिशु का मानसिक विकास इन्हीं पूर्वजों के, कम से कम बाद में आने वाले पूर्वजों के, बौद्धिक विकास की और भी संक्षिप्त पुनरावृत्ति है।" (एंगेल्स , प्रकृति का द्वन्द्ववाद)

यह वह नज़रिया है जो प्रकृति, समाज और विचारों के उद्भव और विकास को स्पष्ट करता है।

निषेध के निषेध से गुज़रकर हर नयी प्रक्रिया एक हद तक अपने पुराने रूप को संरक्षित भी करती है तथा उसे परिवर्तित भी करती है। सम्पूर्ण उद्विकास अन्तरविरोधों के टकराहट की गति और निषेध के निषेध का उदाहरण है। हम यह आगे पुष्ट भी करेंगे।

जीवन के उद्भव के प्रश्न पर हाल्डेन व ऑपेरिन जैवरासायनिक उत्पत्ति तक ल्युक्रिटस, वैसेलियस और डारविन के बाद ही पहुँच सकते थे। जीवन के उद्भव के ज्ञान की इतिहास में यात्रा निषेध के निषेध के ज़रिये ही आगे बढ़ी। अन्तरविरोध की पहचान और फिर उसका प्रक्रिया में आगे बढ़ना ही द्वन्द्ववाद के अध्ययन के लिए पहला ज़रूरी क़दम है। हमने जिस विश्व दृष्टिकोण की बात की है उसका स्रोत और उसकी कसौटी इतिहास ही है। यह दृष्टिकोण पलटकर हमें इतिहास की बेहतर समझ हासिल करने में मदद करता है।

इतिहास में जीवन और मनुष्य के उद्भव का वैज्ञानिक अध्ययन

यूनान में अरस्तु और उनके शिष्य थियोफ्रेस्टस ने जीवविज्ञान की आधारशिला रखी थी। थियोफ्रेस्टस ने भी लाइकिया में काम किया था। लाइकिया वह पहला शोध संस्थान था जहाँ अरस्तु के नेतृत्व में व्यवस्थित शोध हो रहे थे। भारत में गैलन से भी पहले सुश्रुत और चरक के उपचार सम्बन्धी शोध और अवधारणाएँ मिलती हैं। साथ ही जीवन के तमाम रूपों का वर्गीकरण भी मिलता है। अण्डा देने वाले, स्तनपायी तथा कीटों का वर्गीकरण किया गया।

इन दोनों ही ज़मीन के अध्ययन को अरब जगत के जीव विज्ञान ने आगे बढ़ाया और उन्हें संरक्षित भी किया। पन्द्रहवीं सदी में शुरू हुए पुर्नजागरण काल के लिए अरब जगत का ज्ञान भी आधार बनता है। पुर्नजागरण केवल यूरोपीय धरती की वैज्ञानिक क्रान्ति नहीं थी बल्कि विश्व की कई सभ्यताओं के ज्ञान को सोखकर जन्मा था। सामन्ती यूरोप की राजनीतिक और आत्मिक शक्ति चर्च था। बुर्जुआ वर्ग को अपने आर्थिक विकास हेतु विज्ञान की, चर्च की बेड़ियों से मुक्ति की ज़रूरत थी तो दूसरी राजनीतिक मुक्ति के लिए भी पश्चिमी यूरोप में सामन्तवाद की आर्थिक और आत्मिक ताक़त पर हमले की ज़रूरत थी। एंगेल्स कहते हैं:

"सामन्तवाद का महान अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र रोमन कैथोलिक चर्च था। उसने अन्दरूनी लड़ाइयों के बावजूद, समस्त सामन्तीकृत पश्चिमी यूरोप को एक वृहत राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया। इस प्रणाली का पार्थक्यवादी यूनानियों से उतना ही विरोध था, जितना मुस्लिम देशों से। उसने सामन्ती संस्थाओं के चारों ओर ईश्वरीय पावित्र्य का प्रभामण्डल फैला दिया था। उसने सामन्ती नमूने पर पदों की अपनी एक सोपान व्यवस्था क़ायम कर ली तथा कैथोलिक जगत की एक-तिहाई भूमि का स्वामी होने के कारण वह स्वयं सबसे अधिक शक्तिशाली सामन्ती प्रभु बन गया। इसके पहले कि अपवित्र सामन्तवाद पर हर देश में तफ़सील से हमला किया जा सके, उसके इस केन्द्रीय पवित्र संगठन को ध्वस्त करना ज़रूरी था। इसके अलावा, मध्यवर्ग के उत्थान के साथ ही विज्ञान का शक्तिशाली पुनरुत्थान भी हो रहा था। खगोलविज्ञान, यान्त्रिकी, भौतिकी, शरीररचनाविज्ञान, शरीरक्रियाविज्ञान - इन सबका अध्ययन-अनुशीलन फिर से प्रारम्भ हुआ। आधुनिक औद्योगिक उत्पादन के विकास के लिए बुर्जुआ वर्ग को एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता थी, जो प्राकृतिक वस्तुओं के भौतिक गुणधर्म और प्राकृतिक शक्तियों की क्रिया पद्धतियों का ठीक-ठीक पता लगा सके। उस समय तक विज्ञान और कुछ नहीं, चर्च का विनीत दास था तथा धर्म द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण कर पाने की उसे छूट नहीं दी गयी थी, और इसलिए वस्तुतः यह विज्ञान था ही नहीं। अब जब विज्ञान ने चर्च के ख़िलाफ़ विद्रोह किया तो बुर्जुआ वर्ग को भी इस विद्रोह में शामिल होना पड़ा, क्योंकि विज्ञान के बिना बुर्जुआ वर्ग का काम ही नहीं चल सकता था।" (एंगेल्स, समाजवाद काल्पनिक एवं वैज्ञानिक)

जीवजगत और मनुष्य की ख़ुद की समझ क़दम-ब-क़दम बढ़ रही थी। कॉपरनिकस-गैलीलियो-न्यूटन के वैज्ञानिक शोधों की रोशनी में भौतिक विज्ञान का बढ़ना जारी था। इसके साथ ही गणित स्वतन्त्र तौर पर विकसित होता जा रहा था। हालांकि यह भी असल समस्याओं का हल निकालने की प्रक्रिया में ही विकसित हुआ। इस प्रक्रिया में उत्पादन के विकसित होने के साथ ही मानव ज्ञान भी क़दम-ब-क़दम बढ़ रहा था। हमने हेराक्लिटस से लेकर बौद्ध दर्शन की चर्चा कर यह स्पष्ट किया था कि प्राचीन काल का दर्शन द्वन्द्ववादी था। यह आकलन अधिक था न कि प्रकृति के अध्ययन से निसृत।

पुर्नजागरण काल ने धार्मिक बेड़ियों को तोड़ना शुरू किया और इहलोकवादी दर्शन का आधार विकसित किया। वैसेलियस द्वारा मनुष्य की शारीरिक संरचना की चीरफाड़ कर किया शोध और हार्वी का मानव शरीर को जानने के लिए किया गया शोध इस दिशा में बढ़ा पहला क़दम था। मानव उपचार के लिए यह विषय हर हमेशा ही शोध का विषय बना रहा। वहीं जीवन के अन्य रूपों के बारे में अध्ययन अभी उलझा ही हुआ था क्योंकि सूक्ष्मदर्शी की खोज अभी होनी थी और किसी भी अगले क़दम के लिए कोशिका और उद्विकास को समझना ज़रूरी था। पुनर्जागरण के काल में अभी रसायनशास्त्र भी पैदा नहीं हुआ था। जो था वह एलकैमी थी। हैलमॉण्टर और सिलवियस ने जीवन के रसायनों पर शोध किया और कुछ प्रयोगों से नतीजे निकाले परन्तु अभी भी बहुत आगे बढ़ना था। महत्वपूर्ण क़दम सूक्ष्मदर्शी का खोजा जाना था। सूक्ष्मदर्शी के सबसे बेहतर प्रयोग लियूवेनहोक द्वारा किये गए। उसने ही पहली बार हार्वी के द्वारा बताये ख़ून के प्रवाह को एक टैडपोल में देखा। लियूवेनहोक के शिष्य ने मानव

वीर्य में स्पर्मेटोजोआ को देखा। साथ ही गन्दे पानी में प्रोटोजोआ को देखा। उसने ही पहली बार बैक्टीरिया भी देखे। राबर्ट हूक ने सूक्ष्मदर्शी से जब कॉर्क को देखा तो उसमें उन्हें रेक्टेन्गल सरीखी संरचनाएँ दिखायी दी जिसे उन्होंने इंग्लैण्ड के होटलों के छोटे कमरों के नाम पर सेल रख दिया। हालांकि अभी कोशिका का सिद्धान्त भविष्य के गर्भ में था। यह दौर जीवन के नये तथ्यों के सामने आने के कारण तेज़ी से ज्ञान की नयी शाखाओं के जन्म का युग था। इस दौरान तथ्य मिलते जा रहे थे। न सिर्फ़ जीवजगत में बल्कि हर क्षेत्र में विशिष्ट शोध जारी था। इसके नतीजे के तौर पर ही खण्ड-खण्ड में चीज़ों को समझने का नज़रिया विकसित हुआ। इतिहास की अपनी यात्रा में प्राकृतिक विज्ञान का यह स्तर दार्शनिक तौर पर अधिभूतवाद का आधार बनता है।

जीवविज्ञान क़दम-दर-क़दम बढ़ रहा था। लायनस ने प्रजातियों का वर्गीकरण किया। यह आधुनिक जगत का सबसे सटीक वर्गीकरण था। जहाँ अरस्तु के समय पाँच सौ प्रजातियों का अध्ययन मौजूद था वहाँ लायनस ने दस हज़ार से अधिक प्रजातियों का वर्गीकरण किया। यह साबित होता है कि जीव जगत भी पदार्थ जगत में नियमों के तहत बदलता है। जीवाश्म का विज्ञान भी इस दौर में तेज़ी से विकसित हुआ। भूगर्भ विज्ञान भी यह दिखा रहा था कि ख़ुद धरती भी बदल रही है। धरती के परिवर्तन की अवधारणा और तमाम जीवाश्मों की खोज ऐसी प्रजातियों की ओर इशारा कर रही थी जो गुज़र चुकी हैं। लगभग हर खोज पदार्थ जगत के परिवर्तन की अवधारणा पेश कर रही थी। सदियों पुराना द्वन्द्ववादी दर्शन सत्यापित हो रहा था परन्तु उस रूप में नहीं जैसे वह पहले था। आधुनिक युग की शुरुआती खोजों ने भौतिकवादी दृष्टिकोण को सत्यापित किया था परन्तु अभी भी इसपर अधिभूतवाद और यान्त्रिकतावाद हावी था। जैसा हमने ऊपर बताया कि हर शोध के क्षेत्र में खण्ड-खण्ड अध्ययन हो रहा था। यही अधिभूतवाद यानी वस्तुओं को खण्ड–खण्ड में तथा बदलाव को केवल मात्रात्मक रूप में समझना था तथा उद्भव के प्रश्न पर अभी भी ईश्वरीय परिकल्पना हावी थी। एंगेल्स 18वीं शताब्दी के भौतिकवाद के बारे में कहते हैं कि:

"पिछली शताब्दी का भौतिकवाद प्रधानतः यान्त्रिक था, क्योंकि उस समय सभी प्रकृति-विज्ञानों में एक यान्त्रिकी ही और वह भी केवल ठोस (खगोलीय तथा पार्थिव) पिण्डों की यान्त्रिकी, संक्षेप में, गुरुत्वाकर्षण शक्ति की यान्त्रिकी ही निश्चित परिसमाप्ति तक पहुँची थी। रसायन-विज्ञान उस समय अपनी शैशवावस्था, फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के रूप में था। जीव-विज्ञान भी अभी तक पालने से बाहर नहीं निकला था, वनस्पति एवं पशु जीवियों की अभी बिल्कुल मोटे तौर पर ही छानबीन हुई थी और केवल यान्त्रिक कारणों का परिणाम कहकर उनकी व्याख्या की जाती थी। देकार्त की निगाह में जो पशु था, वही अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवादियों की निगाह में मनुष्य था-यानी एक मशीन। एकमात्र यान्त्रिकी की प्रक्रियाओं के मानदण्ड का रासायनिक और जैव प्रक्रियाओं पर प्रयोग-जिन प्रक्रियाओं में यान्त्रिकी के नियम बेशक लागू रहते हुए भी अन्य उच्चतर नियमों द्वारा पृष्ठभूमि में धकेल दिये जाते हैं-क्लासिकीय फ़्रांसीसी भौतिकवाद की प्रथम विशिष्ट, परन्तु उस समय अनिवार्य परिसीमा निर्धारित करता है।

इस भौतिकवाद की दूसरी परिसीमा का कारण यह था कि वह विश्व को एक प्रक्रिया के रूप में, ऐसे भूतद्रव्य के रूप में, जो ऐतिहासिक विकास के सतत क्रम से गुज़र रहा है, समझने में असमर्थ था। यह उस समय के प्रकृति-विज्ञान के स्तर और इससे सम्बद्ध अधिभूतवादी अर्थात द्वन्द्वात्मकताविरोधी तर्कणा पद्धति के अनुरूप था। इतना विदित था कि प्रकृति शाश्वत रूप से गतिमान है। परन्तु उस समय की धारणाओं के अनुसार यह गति शाश्वत रूप से चक्राकार थी, इसलिए वह एक ही स्थान पर रहती थी। बारम्बार वह एक जैसे परिणामों की पुनरावृत्ति करती थी। ऐसी धारणा का होना उस समय अनिवार्य था। सौर मण्डल के उद्भव का काण्ट का सिद्धान्त हाल ही में प्रतिपादित हुआ था और अभी तक वह कुतूहल का ही विषय बना हुआ था। पृथ्वी के विकास का इतिहास, भूविज्ञान, अभी तक सर्वथा अज्ञात था, और यह धारणा कि प्रकृति जगत के आज के प्राणी एक लम्बे विकास के अनुक्रम जिसमें सरल से जटिल की ओर प्रगति हुई है-के परिणाम हैं, उस समय वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत ही नहीं की जा सकती थी। इसलिए प्रकृति के बारे में अनैतिहासिक मत अनिवार्य था।" (एंगेल्स, लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त)

सौर्य मण्डल के उद्भव का आकलन काण्ट ने लगाया। इसे सत्यापित लॉपलास ने किया। उन्होंने नेपोलियन के दरबार में 'सेलेस्टियल मैकेनिक्स' की पुस्तक पेश की और यह पूछे जाने पर कि उसमें ईश्वर का ज़िक्र नहीं है तो उन्होंने (लाप्लास) फ़ख़्र से कहा था कि मुझे ईश्वर की अवधारणा की ज़रूरत नहीं है। केवल 'अवधारणा की ज़रूरत नहीं' से आगे बढ़ इस अवधारणा को ग़लत कहने का आधार प्राकृतिक विज्ञान नित-निरन्तर खड़ा कर रहा था। गैलीलियो ने तारों की छतरी के पार कल्पित स्वर्ग को भेद कर असलियत दिखला दी। खनन की प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ जहाँ एक तरफ़ नर्क का खण्डन हुआ वहीं दूसरी तरफ़ धरती के गर्भ से जीवाश्म, खनिज और पत्थरों के प्रकारों से लेकर केन्द्र में दहक़ रहा लावा धरती की एक प्रक्रिया के रूप में जाना गया। यह निषेध के निषेध का सत्यापन ही था। मसलन एंगेल्स कहते हैं कि:

"पूरा भूगर्भ विज्ञान निषेधित निषेधों का एक क्रम है, जिसमें बार-बार पुरानी शैल संरचनाओं का ध्वंस और नयी शैल संरचनाओं का निक्षेप होता रहता है। द्रव पिण्ड के ठण्डा पड़ने पर पृथ्वी की जो मूल पपड़ी बनी थी, वह महासागरीय क्रियाओं, ऋतु क्रियाओं तथा वायुमण्डलीय-रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप टूट-फूट जाती है, और इन टूटे हुए पिण्डों का महासागर के तल पर स्तरण हो जाता है। महासागर के तल में होनेवाली स्थानीय उथल-पुथल से सतह के ऊपरवाले कुछ हिस्सों पर वर्षा का, अलग-अलग ऋतुओं के बदलते हुए ताप का और वायुमण्डल की ऑक्सीजन तथा कार्बनिक एसिड का असर पड़ता है। उन

पिघले हुए शैल पुंजों पर भी इन्हीं क्रियाओं का असर पड़ता है, जो पृथ्वी के गर्भ में से स्तरों को तोड़कर बाहर निकलते हैं और बाद में ठण्डे पड़ जाते हैं। इस तरह दसियों लाख शताब्दियों तक नित नये स्तरों का निर्माण होता रहता है और फिर उनमें से भी अधिकांश नष्ट हो जाते हैं और हर बार नये स्तरों के निर्माण की सामग्री का काम करते हैं।" (एंगेल्स, ड्यूहरिंग मत खण्डन)

डाल्टन ने रासायनिक क्रियाओं में रसायनों के द्रव्यमान में बदलाव के आधार पर गुण और परिमाण के बीच द्वन्द्वात्मक अध्ययन से परमाणु की अवधारणा दी। यह परमाणु जीवन के तत्वों के बीच भी मौजूद होता है। अपने शरीर को चीरकर और उसकी ख़ुर्दबीन में जाँच कर यह पता चला कि हम इस धरती के ही हिस्से हैं। जैसा कि हमने ऊपर कहा कि हर नयी खोज के साथ पुराना यूनानी दर्शन जाग रहा था परन्तु आधुनिक भौतिकवाद यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप में।

धरती के समान जीवन भी परिवर्तनशील है। लैमार्क और अन्य वैज्ञानिक जीवजगत के परिवर्तन को व्याख्यायित कर रहे थे। वहीं आसमान में तारों का अध्ययन भी जारी था। तारों से धरती पर गिर रही रोशनी की चीरफाड़ कर उसके अन्दर मौजूद भिन्न तरंगों से तारों की संरचना के बारे में जाना गया। धरती के चुम्बकत्व से लेकर आसमान से गिरती बिजली का अध्ययन जारी था। यह भी पता चला कि कंघे को बालों में घिसकर उत्पन्न आवेश और आसमान से गिरने वाली बिजली एक ही है। इस बिजली से मनुष्य अपने घर को रोशन करने के ख़्वाब देख रहा था। ऊर्जा का रूपान्तरण से आगे बढ़ पिण्डीय पदार्थ और ऊर्जा के रूपान्तरण की ओर क़दम बढ़ रहे थे। इस कशमकश के बीच ही जीवन के उद्भव पर भी बहसें जारी थीं। अस्तित्व और उद्भव से जुड़े मसलों पर से ईश्वरीय प्रभा छाँटी जा रही थी। बायोलोजी के बाल्य काल में लायनस से पहले वुल्फ़ का यह मानना कि प्रजातियों को ईश्वर ने तय प्रकार्यों के मातहत बनाया है। चूहे को बिल्ली खा जाती है तो बिल्ली चूहे को खाने के लिए बनी है। इस अवधारणा से ही जुड़े उद्भव के प्रिफॉरमेशन सरीखे विचार थे। इस विचार के अनुसार मनुष्य अपने पूर्णतम रूप में स्पर्म के अन्दर ही मौजूद होता है। उसका केवल परिमाणात्मक परिवर्तन हो सकता था। परन्तु यह सब नष्ट हुए। आधुनिक विज्ञान द्वन्द्ववाद की कसौटी बना। डारविन के उद्विकास के सिद्धान्त ने अभी तक मौजूद जीवजगत के सभी सिद्धान्तों को एक सूत्र में पिरो लिया। जीवन के परिवर्तन का वैज्ञानिक नियम आ चुका था। परन्तु उद्भव के सवाल पर अभी भी एक सवाल था। वह यह कि क्या धरती पर जीवन एक बार किसी प्रक्रिया द्वारा अस्तित्व में आया और तभी से उद्विकास की प्रक्रिया के ज़रिये आगे बढ़ता है या कि यह आज भी जीवन से जीवन में स्वत:स्फूर्त तरीक़े से बदलता रहता है।

हर किसी ने घर में देर तक रखी हुई सब्ज़ियों या मांस को सड़ते हुए और उनमें भुनगों को जन्मते हुए देखा है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि नवजीवन स्वत:स्फूर्त तरीक़े से पैदा हो रहा है। लेकिन वास्तव में यहाँ नवजीवन पैदा नहीं होता है। भुनगे का पैदा होना और सड़न, हवा में मौजूद सूक्ष्मजीव और मक्खियों के अण्डों की वजह से होते हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों के ज़रिये हम परिघटनाओं के सार तक पहुँचते हैं। इस परिघटना को समझने और प्रयोग कर जीवन की उत्पत्ति के प्रश्न पर असिमोव हमें बताते हैं कि कैसे 17वीं शताब्दी में डॉक्टर फ्रांस्सिको रेडी ने प्रयोग के ज़रिये यह सिद्ध किया कि फ्लास्क में रखे मांस में भुनगे (Maggots) आ जाते हैं परन्तु ढँके मांस में सड़ने के बावजूद भी भुनगे नहीं लगते। इससे रेडी ने यह सिद्ध किया कि भुनगे स्वत:स्फूर्त तरीक़े से नहीं पैदा होते हैं। अन्तत: 19वीं शताब्दी में लूइस पास्चर के प्रयोग ने यह सिद्ध किया कि न ही भुनगे और न ही मांस का सड़ना स्वत:स्फूर्त तरीक़े से होता है। केवल जीवन से जीवन पैदा होता है।

डारविन ने जीवन की भौतिकवादी अवधारणा के लिए आधार स्पष्ट कर दिया था। वहीं दूसरी तरफ़ पास्चर के प्रयोग ने यह सिद्ध किया कि जीवन स्वत:स्फूर्त तरीक़े से पैदा नहीं होता है। यह केवल जीवन से ही पैदा हो सकता है। इन दोनों को वक़्त में पीछे लेकर जाएं तो हम जीवन के उद्भव के सवाल पर पहुँचते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक प्रोटीन की संरचना खोज ली गयी। कोशिका के केन्द्रक के भीतर डीएनए भी खोजा गया परन्तु उसके महत्व को समझने में कई साल लग गये। सवाल इन सभी अवधारणाओं का एक जगह पिरोने का था।

यह काम ओपेरिन और जेबीएस हॉल्डेन ने किया। उन्होंने जैवरासायनिक उत्पत्ति का सिद्धान्त दिया। यह जीवन के उद्भव का पहला भौतिकवादी विश्लेषण था जिसे कि 1955 में यूरी ने साबित किया। इसे बरनाल ने रासायनिक प्रक्रिया का जैविक प्रकिया में तब्दील होना बताया था। जीवन ईश्वरीय चमत्कार नहीं था बल्कि एक प्रक्रिया का ही दूसरी प्रक्रिया में छलांग लगना था। रासायनिक प्रक्रिया भी एक ख़ास वक़्त में पैदा हुई। जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की थी कि पदार्थ जगत की एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया में तब्दील हो जाती है। नैब्युला से जन्मे तारे सूर्य का एक हिस्सा अलग हो धरती बन जाता है। सूरज के गर्भ में और आम तौर पर सितारों की भट्टी में रासायनिक तत्व पकते हैं। यानी हाइड्रोज़न, ऑक्सीजन से लेकर पृथ्वी पर इन तत्वों का ही तापमान कम होने पर रासायनिक उद्विकास शुरू हो जाता है। रासायनिक उद्विकास ही एक मंज़िल पर जैविक उद्विकास में छलांग लगाता है। हालिया शोध इस अवधारणा को पुष्ट करता है परन्तु हूबहू नहीं जैसी परिकल्पना हाल्डेन, औपेरिन और बरनाल ने दी थी। हाल्डेन, ओपेरिन की अवधारणा और आधुनिक अवधारणा पर हम अगली बार उपरोक्त चर्चा की रौशनी में चर्चा करेंगे।

●

सामयिकी

आईपीएल, खेल की राजनीति और सट्टेबाज़ी

विवेक

आईपीएल अब एक वैश्विक ब्राण्ड के तौर पर स्थापित हो चुका है। आज इसका पूरा कारोबार 6.3 अरब डॉलर की क़ीमत पार कर चुका है। भारत जैसे ग़रीब देश में जहाँ एक बड़ी आबादी भूख व कुपोषण से जूझ रही है, वहाँ किसी खेल आयोजन द्वारा इतना बड़ा कारोबार खड़ा कर लेना अविश्वसनीय (व अश्लील) लगता है। वैसे यह तो स्पष्ट है कि यह सिर्फ़ मनोरंजन के लिए किया गया खेल आयोजन नहीं है। आज के दौर में क्रिकेट एक

उपभोक्ता उत्पाद है और भारत इस उपभोक्ता उत्पाद का सबसे बड़ा बाज़ार। इस उत्पाद को तमाम तरह के कलेवरों में सजा कर लोगों के समक्ष पेश किया जाता है। भारत जैसे विशाल देश में क्षेत्रीय विषमताएँ मौजूद हैं, गाहे-बगाहे उसे विभिन्न शहरों के नाम से बनी फ्रेंचाइजी टीमों के ज़रिये क्षेत्रीय प्रतिद्वन्द्विता का भी रूप दे दिया जाता है। क्षेत्रीय अस्मिता को भी टीमों की हार जीत से जोड़ कर पेश किया जाता है। लगातार ऐसे विज्ञापन चलाये जाते हैं, ताकि ये भावना लोगों में उठे व क्रिकेट मैच की व्यूअरशिप बढ़े। वैसे ही जैसे अन्तरराष्ट्रीय खेल आयोजनों में होता है। लेकिन इन सब के इतर भी आईपीएल के 14 साल के इतिहास में भ्रष्टाचार के कई मामले सामने आये हैं। इनमें कई सफ़ेदपोशों के भी नाम सामने आये हैं। पर हर बार आईपीएल मैनेजिंग कमिटी व बीसीसीआई द्वारा मामले को रफ़ा-दफ़ा करने का प्रयास किया जाता है। पर इस पर नज़र डालने के पूर्व एक बार मौजूदा कालखण्ड में खेलों की स्थिति व उनके पीछे की राजनीति पर भी विचार कर लेना चाहिए।

आधुनिक समय में खेल आयोजनों के पीछे की राजनीति

अगर देखा जाये तो खेलों का उद्भव श्रम प्रक्रिया का ही एक विस्तार था, हालाँकि ज़ाहिर है कि खेल श्रम प्रक्रिया से कई मायनों में अलग है। सभ्यता की शुरुआत से ही खेल किसी न किसी रूप में विद्यमान रहे हैं। खेल निष्पक्षता व स्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता को बढ़ावा देते हैं, यह आज की अलगावग्रस्त व अन्यायपूर्ण दुनिया में व्यक्तियों के बीच सामूहिकता की भावना को भी निर्मित करते हैं। जो इन खेलों को सिर्फ़ देख भी रहे होते हैं वे भी किसी व्यक्ति विशेष व व्यक्तियों के समूह द्वारा उस खेल में दिखायी गयी शारीरिक कुशलता व स्वस्थ प्रतियोगिता में आनन्द पाते हैं। यही वह कारण है जिससे लोग खेलों की ओर आकर्षित होते हैं और खेलों से जुड़ाव महसूस करते हैं।

किन्तु खेल आयोजन सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक संरचना से अलग नहीं होता बल्कि उसके ही मातहत होता है। साथ ही खेल आयोजन मौजूदा व्यवस्था की मूल्य-मान्यताएँ भी प्रसारित करते है। यह भी कहा जा सकता है कि खेलों के ज़रिये शासक वर्ग अपनी मूल्य-मान्यताओं को जनता के बीच स्थापित करता है। एक तरह से खेल आयोजन शासक वर्ग का उपकरण बन जाते हैं। ग्राम्शी के अनुसार विचारधाराएँ लोगों के हृदय में इसलिए अपना स्थान बना पाती हैं, क्योंकि वे वास्तविकता की बात करती हैं, वे हमारी अभिलाषा, हमारे शौक़ की बात करती हैं। स्पष्ट है, कि खेलों के ज़रिये बुर्जुआ मूल्य-मान्यताओं को लोगों के मन-मस्तिष्क में बैठाना आसान है। फिल्में भी जनमानस पर ऐसा ही प्रभाव छोड़ती हैं।

हालांकि जैसे पहले लिखा गया है कि चूंकि खेल भी इसी व्यवस्था के अन्तर्गत है, इसलिए वो सारी बुराइयाँ जो पूँजीवादी व्यवस्था में दिखती हैं, वे सारी अन्ततोगत्वा खेलों में भी परिलक्षित होती हैं। आज के दौर में होने वाले खेल आयोजन उग्र राष्ट्रवाद, क्षेत्रवाद, पितृसत्ता के ही द्योतक बन जाते हैं। इसके

कारण ही खेलों का जो अपना नैसर्गिक सौन्दर्य होता है, वह नष्ट हो जाता है। जिस ईमानदारी, बराबरी व खेल भावना की बात की जाती है, वह गौण हो जाती है। उसकी जगह किसी भी क़ीमत पर अपने प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ना या आज के दौर में खेल के ज़रिये से ज़्यादा से ज़्यादा पैसे कमाना एक मात्र लक्ष्य बन जाता है। सिर्फ़ इतना ही नहीं खेलों का इस्तेमाल किसी देश के शासकवर्ग द्वारा अपनी राजनीतिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए भी किया जाता है। ओलम्पिक, फुटबॉल या क्रिकेट वर्ल्ड कप का आयोजन अपने देश में करने के लिए बड़ी से बड़ी बोली लगायी जाती है। इन आयोजनों में बेहतर प्रदर्शन के ज़रिये अपने को दूसरों से बेहतर दिखाने की कोशिश की जाती है। जिन खेलों का लक्ष्य लोगों को साथ लाना होता है, वह अन्धराष्ट्रवाद की भेंट चढ़ कर लोगों में अलगाव की भावना को बढ़ाने का काम करने लग जाता है।

आईपीएल में सट्टेबाज़ी व भ्रष्टाचार

आज की दुनिया में विशाल स्तर पर खेल आयोजन किये जाते हैं, जिसे सिर्फ़ स्टेडियम में बैठे लोग नहीं बल्कि इसके प्रसारण के फलस्वरूप करोड़ों लोग इसे देखते हैं। समय के साथ जैसे-जैसे खेलों का वाणिज्यीकरण होता गया, उनमें पूँजी निवेश बढ़ता गया। उसी अनुपात में खेलों में भ्रष्टाचार बढ़ता गया। क्रिकेट भी इससे अछूता नहीं रहा है। इंग्लैण्ड में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही घरेलू क्रिकेट मैचों में सट्टेबाज़ी वहाँ के अभिजात वर्ग का शगल था। हालांकि बिरले ही ऐसा हुआ हो जब सट्टेबाज़ी ने क्रिकेट के परिणामों को प्रभावित किया हो। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के मध्य के दौर में भी हालांकि ऐसे इक्का-दुक्का वाकये हैं जब खिलाड़ियों ने सटोरियों से पैसे लेकर जान-बूझकर ख़राब खेल कर क्रिकेट मैच के परिणाम को प्रभावित किया हो।

क्रिकेट में सट्टेबाज़ी ने जोर तब पकड़ा जब 1970 के दशक में छोटे फॉर्मेट के क्रिकेट मैच शुरू हुए। इंग्लैण्ड में 1966 में पहली वन डे क्रिकेट लीग (जिलेट कप) के आयोजन के उपरान्त सटोरियों ने क्रिकेट में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी, क्योंकि अब परिणाम के लिए पाँच दिनों के इन्तज़ार की आवश्यकता नहीं थी। अब परिणाम चूंकि एक ही दिन में आ सकता था इसलिए इसमें सट्टे लगाना पहले से ज़्यादा आसान हो गया। हालांकि इस दौरान भी क्रिकेट मैचों का परिणाम पहले से फ़िक्स होने की घटना बड़े पैमाने पर नहीं हुई।

90 के दशक के दौरान क्रिकेट में काफ़ी बदलाव हुए। क्रिकेट में पूँजी निवेश लगातार बढ़ता गया। ब्रॉडकास्टिंग व प्रयोजन अधिकार बेचकर क्रिकेट बोर्डों की आमदनी तीव्र गति से बढ़ती गयी। इसका एक परिणाम था कि खेल की गति में तेज़ी आयी, एकदिवसीय मैचों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई तथा क्रिकेट का केन्द्र अब इंग्लैण्ड व ऑस्ट्रेलिया से हटकर भारत पहुँच गया। क्रिकेट बोर्ड मालामाल होते चले गये, मालामाल होने की यह प्रक्रिया जारी है। एक अनुमान के मुताबिक़ वर्ष 2019-2020 में भारतीय क्रिकेट कण्ट्रोल बोर्ड की सालाना आय क़रीब 535 मिलियन डॉलर तक पहुँच चुकी है। क्रिकेट बोर्ड का बढ़ता मुनाफ़ा देख कर उद्योगपति व राजनेता जैसे रसूख़दार लोग इसमें शामिल होने के लिए मचलने लगे। प्रशासक व पदाधिकारी बनकर कई राजनेता व उद्योगपति राष्ट्रीय व विभिन्न घरेलू क्रिकेट कण्ट्रोल बोर्डों में शामिल हुए। इन्हें खेल या खिलाड़ियों की उन्नति की कोई फ़िक्र नहीं होती है, क्रिकेट बोर्ड में ये इसलिए शामिल हुए, ताकि बहती गंगा में हाथ धो सकें। करोड़ों डॉलर के टर्नओवर वाले प्रतिष्ठान का हिस्सा बनकर येनकेन प्रकारेण अपना मुनाफ़ा काटना इनका पहला लक्ष्य होता है।

90 का दशक ही वह दौर था जब क्रिकेट में सट्टेबाज़ी ने अपने पैर पसारे, सटोरी खिलाड़ियों को प्रलोभन देकर उन्हें खराब प्रदर्शन करने और मैच के परिणाम को प्रभावित करने के लिए उकसाते। चूंकि अगर क्रिकेट मैच के परिणाम पहले से ज्ञात हो तो फिर इसके आधार पर सट्टे के भाव का निर्धारण कर सट्टेबाज मनमुआफ़िक मुनाफ़ा कमा सकते थे और ऐसा उन्होंने किया भी। अण्डरवर्ल्ड से जुड़े आपराधिक तत्व भी इस सट्टेबाज़ी के कारोबार में शामिल हुए। हालात इतने ख़राब हो गये कि वर्ष 2000 के अन्त तक फ़िक्सिंग के क़रीब दर्जन भर मामले सामने आये। कई नामचीन खिलाड़ियों ने सटोरियों से सम्पर्क करने की बात भी मानी, तत्कालीन भारत व दक्षिण अफ्रीका टीम के कप्तान पर भी मैच फ़िक्सिंग के आरोप लगे व उन्हें प्रतिबन्ध झेलना पड़ा। इसी वर्ष आईसीसी ने भ्रष्टाचार निरोधक इकाई शुरू की, पर इसका कोई विशेष असर नहीं हुआ। इसके बाद भी घरेलू व अन्तरराष्ट्रीय क्रिकेट मैचों में फ़िक्सिंग के मामले सामने आते रहे। सटोरी पहले से ज़्यादा संभल कर पूरे मैच को फ़िक्स न कर उसके एक बहुत ही छोटे हिस्से को फ़िक्स करने लगे, जिसे स्पॉट फ़िक्सिंग कहा जाने लगा।

2008 में आईपीएल की शुरुआत के बाद सट्टेबाज़ी के जैसे नये द्वार खुल गये। चूंकि इस क़िस्म की लीग में टीमें फ़्रेंचाइजी के तहत होती है, इसलिए इसमें सट्टेबाज़ी करने के लिए सटोरी, खिलाड़ियों से लेकर टीम फ़्रेंचाइजी मालिकों तक सम्पर्क साध सकते थे। आईपीएल के इन 14 सालों में ऐसे भी मामले सामने आये हैं, जब ख़ुद टीम के मालिक मैचों के परिणाम व खिलाड़ियों के व्यक्तिगत प्रदर्शन पर सट्टा लगाने लगे। अपनी शुरुआत से ही इस लीग पर भ्रष्टाचार के आरोप लगते रहे हैं। ज़्यादा दिन नहीं बीते जब इस लीग के भूतपूर्व चेयरमैन ललित मोदी पर मनी लाण्ड्रिंग, बोली प्रक्रिया को प्रभावित करने व सट्टेबाज़ी के आरोप लगे, जिसके बाद वो देश छोड़कर लन्दन भाग गया। वर्ष 2012 में पाँच व वर्ष 2013 में भी तीन खिलाड़ियों के ख़िलाफ़ सट्टेबाजों से पैसे लेकर ख़राब प्रदर्शन के सबूत मिले। वर्ष 2013 में ही तत्कालीन बीसीसीआई अध्यक्ष इ. श्रीनिवासन के दामाद तथा चेन्नयी की फ़्रेंचाइजी से जुड़े गुरुनाथ मयप्पन व

(पेज 27 पर जारी)

सामयिकी

आईआईटी कानपुर का सर्टिफ़िकेट भी योगी सरकार के कोरोना कुप्रबन्धन को छुपा नहीं सकता

प्रियम्वदा

उत्तर प्रदेश के जाने माने संस्थान आईआईटी कानपुर के प्रोफ़ेसर और छात्रों द्वारा हाल में ही एक रिपोर्ट जारी की गयी है। "कोविड संग्राम, यूपी मॉडल : नीति, युक्ति, परिणाम" नाम से निकाली गयी इस रिपोर्ट की ख़ास बात यह है कि इसमें साफ़ तौर पर यह देखा जा सकता है कि फ़ासीवादी सरकार किस तरह झूठ और मिथकों का सृजन करती है और फिर उसे लोगों के बीच स्थापित करने का काम करती है। प्रोफ़ेसर मनीन्द्र अग्रवाल के मार्गदर्शन में निकाली गयी यह रिपोर्ट बताती है कि कोरोना से लड़ने में उत्तर प्रदेश का योगी मॉडल सबसे सफ़ल रहा है। इसमें बताया गया है कि यूपी में कोरोना की दूसरी लहर के दौरान योगी सरकार ने मज़दूरों के प्रवास के मुद्दे से लेकर स्वास्थ्य सुविधाओं तक की बेहतरी का काम सबसे बेहतर तरीक़े से किया है। इस रिपोर्ट में लिखी कुछ पंक्तियों पर गौर करें :-

"उत्तर प्रदेश कोविड संग्राम: यूपी मॉडल"

कोविड के दूसरी लहर से निपटने हेतु उत्तर प्रदेश ने एक संकटमय, परन्तु साहसिक नीति लागू की। अनन्तर इस नीति को "यूपी मॉडल" का नाम दिया गया। यूपी मॉडल के मुख्य प्राप्तवय निम्नांकित है:

1) यह निश्चित करना कि नागरिकों, विशेषतः प्रवासी श्रमिकों व वंचित वर्गों की जीविका कुप्रभावित ना हो।

2) महामारी से संग्राम के साथ-साथ आर्थिक कार्य चलाते रहना ताकि आर्थिक प्रगति चलती रहे।

3) अमूल्य जीवन की रक्षा हेतु संक्रमण के निर्बाध प्रसार पर रोक लगाना।

4) महामारी के कारण बड़े स्वास्थ्य कार्य हेतु आरोग्य तन्त्र का संवर्धन करना।

अर्थ-तन्त्र को चलाते रहने में यह आशंका थी कि महामारी तेज़ी से फैलेगी तथा स्वास्थ्य तन्त्र को ध्वस्त कर देगी। अत: यूपी मॉडल में नीति 3 व 4 का प्रभावी सम्पादन आवश्यक था।"

ताज़्जुब की बात है कि अगर कोविड की दूसरी लहर के दौरान उत्तर प्रदेश सरकार ने श्रमिकों की जीविका सुनिश्चित की तो फिर मज़दूर भूख और बेकारी की वज़ह से आत्महत्या करने को क्यों मज़बूर हुए? अब्दुल अलीम जाफ़री द्वारा तैयार की गयी न्यूज़क्लिक की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ मनरेगा मज़दूर यूनियन ने बताया कि अप्रैल-मई 2021 के महीने में खाने, पैसे और स्वास्थ्य की सुरक्षा के अभाव में कई मज़दूरों ने ख़ुदकुशी कर ली। पंचायत चुनाव की घोषणा के बाद मुश्किल से 50-60 दिन काम मिल पाया। क्या इसे योगी मॉडल में श्रमिकों की जीविका और जीवन प्रभावित होना नहीं कहा जायेगा?

मनरेगा के एडिशनल कमिश्नर ने बताया कि एक महीने के अन्दर मनरेगा में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या 2.49 लाख से बढ़कर 14.89 लाख हो गयी। पूरी सच्चाई रिपोर्ट में किये गये दावों से उलटी दिखती है!

सवाल यह भी है कि अगर योगी जी और वज़ीर-ए-आज़म ने मिलकर उत्तर प्रदेश को कोरोना से लड़ने के मामले में सबसे बेहतरीन प्रदेश बनाया तो फिर क्यों गंगा में बहती लाशों को देखकर इंसानियत शर्मसार हो रही थी? क्यों लोग ऑक्सीजन, दवाओं, बेड की कमी से मर रहे थे? श्मशानों के बाहर लाशें ख़त्म होने का नाम नहीं ले रही थी। हर तरफ़ फैले मौत के ताण्डव के लिए क्या सिर्फ़ कोरोना महामारी ज़िम्मेदार थी? बिलकुल नहीं! कोरोना महामारी को किस तरीक़े से फ़ासिस्ट योगी-मोदी सरकार ने इस भयानक अंजाम तक पहुँचाया, लोग ये सवाल न पूछना शुरू कर दें इसलिए इस तरह की फ़र्जी रिपोर्ट जारी करके आने वाली पीढ़ी को सच से दूर रखने की राजनीति भाजपा सरकार कर रही है।

हमने देखा कि कोरोना महामारी की दूसरी लहर के दौरान हर व्यक्ति आतंक के साये में जीने को मज़बूर था। इलाज़ और स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी से लोग मरने को मजबूर थे, हर तरफ़ से मौत की सूचनाएँ आ रहीं थीं। शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जिसके रिश्तेदारों,दोस्तों,परिजनों में से किसी की मौत न हुई हो। उत्तर प्रदेश के सफ़ल मॉडल की रिपोर्ट में इस भयावह परिस्थिति का कहीं कोई ज़िक्र नहीं है। क्या इस भयावहता के लिए सिर्फ़ कोरोना महामारी ज़िम्मेदार थी? कोविड संग्राम के जिस यूपी मॉडल की बात इस रिपोर्ट में की गयी है, वह कहीं नहीं बताती कि कोरोना की पहली लहर गुज़र जाने के बाद जब दूसरी लहर से बचाव की तैयारी का वक़्त था, तब ये सरकार बंगाल के चुनाव जीतने की तैयारी कर रही थी।

दूसरी लहर के दौरान जब चारों ओर लोग महामारी और बदहाल स्वास्थ्य व्यवस्था के कारण मर रहे थे तब योगी सरकार ने उत्तर प्रदेश में पंचायत चुनाव कराये। जिसमें न केवल संक्रमण गाँवों में तेज़ी से फैला, बल्कि ड्यूटी पर लगे हज़ारों कर्मचारी मौत के मुँह में झोंक दिये गये। उत्तर प्रदेश शिक्षक संघ की रिपोर्ट के

मुताबिक़ चुनाव ड्यूटी पर लगे 2046 शिक्षकों की मौत कोरोना से हुई। जबकि योगी सरकार के मुताबिक़ कुल 45 कर्मचारियों की मौत ही कोविड से हुई।

हमारे देश में कम टेस्ट होने से गाँवों-कस्बों और शहरों के ग़रीब लोग बिना टेस्ट, बिना अस्पताल पहुँचे, गुमनाम मौत मर रहे थे। उत्तर प्रदेश के गाँवों की हालत भी इससे अलग नहीं थी। इन मौतों को ध्यान में रखते हुए अनुमान लगाया जाये तो सरकार के मुताबिक़ कोरोना से होने वाली मौतों से कई-कई गुना ज़्यादा मौतों के आँकड़े हमारे सामने आयेंगे और यही सच भी है। उत्तर प्रदेश का हर इन्साफ़पसन्द इंसान इस बात को कभी नहीं भूल सकता है कि जिस दिन कानपुर में 476 लाशें जलीं और लाशों की संख्या बहुत अधिक होने के चलते टोकन सिस्टम लागू करना पड़ा, उस दिन भी सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ केवल 3 मरीज़ों की कोरोना से मौत दिखायी गयी थी।

आर्टिकल-14 के रिपोर्टरों द्वारा हासिल किये गये आँकड़ों के मुताबिक़ यूपी के 24 जिलों में 31 मार्च, 2021 के बाद के नौ महीनों के दौरान कोविड-19 की मौत के आधिकारिक आँकड़ों से 43 गुना ज़्यादा मौतें हुई थीं। आर्टिकल-14 के रिपोर्टर ने इस दस्तावेज़ को राइट टू इनफॉर्मेशन एक्ट, 2005 के तहत हासिल किया है। जिसमें बताया गया है कि ग़ैर महामारी के दौरान यानी 1 जुलाई, 2019 और 31 मार्च, 2020 के बीच इन 24 जिलों में तक़रीबन 1,78,000 मौतें हुई। उसी दौरान 2020-2021 में इन मौतों में 110% की वृद्धि हो गयी जो बढ़कर 3,75,000 हो गयी यानी कि 1,97,000 की बढ़त। स्वास्थ्य मन्त्रालय के आँकड़े को ही देखें तो इसके मुताबिक़ पूरे देश के कोविड केस का 10% सिर्फ़ उत्तर प्रदेश से आ रहा था। अप्रैल 2021 के महीने में यूपी में कोविड केस की कुल संख्या 9,76,765 हो गयी थी। ज़ाहिरा तौर पर ये भी वो आँकड़े हैं जो हमारे सामने आ पाये जबकि कितनी ही मौतें गुमनाम हैं और जिन्हें सामने आने नहीं दिया गया। लखनऊ, कानपुर, प्रयागराज, वाराणसी सबसे अधिक प्रभावित क्षेत्रों में से एक थे और यहाँ के अस्पतालों में कोरोना से मरने वालों की डेथ सर्टिफ़िकेट में कार्डिएक अरेस्ट या मल्टी ऑर्गन फेल्योर दिखाने का हुक्म जारी किया गया था। कोरोना से होने वाली मौतों की असलियत दिखाने वालों पर यूएपीए लगाने की धमकी और तमाम तिकड़मों का इस्तेमाल कर चुप कराने की कोशिश की गयी। सरकारी आँकड़ों का तो सच्चाई से दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। जिस सरकार की आपराधिक लापरवाही की वजह से लाखों लोगों की जानें गयी हों, क्या वह अपनी बेहतरी का रिपोर्ट पेश कर अपने कुकृत्यों को छुपा सकती है? बिलकुल नहीं!

हमें भूलना नहीं चाहिए की 'जब चारों ओर मौत का हाहाकार मचा था, जब देश के करोड़ों मेहनतकश रोटी के लिए और महामारी से जूझ रहे थे, तब ये फ़ासीवादी मोदी सरकार 20,000 करोड़ की लागत से लोगों की लाशों पर 'सेण्ट्रल विस्टा विकास परियोजना' बनवा रही थी। जबकि इन पैसों से 100-100 करोड़ के 200 अस्पताल बनवाये जा सकते थे। 'सेण्ट्रल विस्टा प्रोजेक्ट' इस फ़ासिस्ट सरकार की बर्बरता और भ्रष्टाचार का सबसे बड़ा नमूना है। श्मशान और कब्रिस्तान कम पड़ जाने, नदियों के किनारे दफ़न और नदियों में तैरती लाशों के अलावा कई अख़बारों में डेथ सर्टिफिकेट के आधार पर जारी किये गये आँकड़े सरकार के कुकर्मों का भाण्डा फोड़ देते हैं।

सरकार ने समय रहते अगर कोविड से लड़ने की तैयारी की होती तो इतनी भयावह स्थिति न बनती और अपने अपराधों को छुपाने के लिये इन्हें एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाकर आईआईटी के शिक्षकों, छात्रों द्वारा यह झूठी रिपोर्ट तैयार न करवानी पड़ती। ●

(पेज 25 से जारी)

जयपुर की फ्रेंचाइजी से जुड़े राज कुन्द्रा के भी सट्टेबाज़ी के रैकेट में शामिल होने की बात सामने आयी। परन्तु फिर भी बीसीसीआई की भ्रष्टाचार निरोधक इकाई द्वारा मामले की जाँच के नाम पर लीपापोती ही की गयी।

इस प्रकरण में लोगों की नाराज़गी देखते हुए, सुप्रीम कोर्ट ने हस्तक्षेप किया व पूरे मामले की जाँच के लिए लोढ़ा कमेटी की स्थापना की। जिसने अपनी रिपोर्ट में यह कहा था कि क्रिकेट बोर्ड से जुड़े पदाधिकारियों को भी अपनी सम्पत्ति के ब्यौरे सार्वजनिक करने होंगे, ताकि पदाधिकारियों द्वारा किसी भी रूप में भ्रष्टाचार और सट्टेबाज़ी न की जा सके। इस कमेटी की रिपोर्ट का बीसीसीआई ने विरोध किया व इसके विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील तक दायर की, जिसे सुप्रीम कोर्ट ने ख़ारिज़ कर दिया।

वैसे अब तो सट्टेबाज़ी ने एक नया रूप ही ले लिया है। तमाम तरह के ऑनलाइन ऐप जैसे ड्रीम 11, एमपीएल आदि के ज़रिये अब दर्शक भी उन खिलाड़ियों पर एक तरह से पैसा लगाते हैं, जिनसे उन्हें अच्छे प्रदर्शन की उम्मीद है। सनद रहे, भारत में सट्टेबाज़ी अभी भी ग़ैरक़ानूनी है, परन्तु इन ऐप्लिकेशन के ज़रिये सट्टेबाज़ी को धड़ल्ले से अंजाम दिया जा रहा है। तमाम खिलाड़ी भी इन ऐप्लिकेशन के विज्ञापन करते हुए दर्शकों से एक तरह से अपने प्रदर्शन की बोली लगाने की अपील करते हैं।

आईपीएल एक उदाहरण है कि किस तरह पूँजी द्वारा उत्पन्न भ्रष्टाचार किसी खेल को खोखला कर देता है। उसके सौम्य स्वरूप को बिगाड़ देता है व उसे उपभोक्ता माल में तब्दील कर देता है। इसलिए इस व्यवस्था में किसी भी खेल के ऐसे स्वरूप की कल्पना करना,जिसमे भ्रष्टाचार व पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा जनित कोई भी बुराई न हो, असम्भव है। इस क़िस्म के खेल आयोजन का एक मक़सद जनता को उसके मूल मुद्दे से भटकाना भी होता है, इन खेल आयोजनों से क्षणिक मनोरंजन व उन्माद प्राप्त कर अपने दैनिक जीवन की तकलीफ़ों महँगाई व बेरोज़गारी को भूल जाती है तथा एक तरह से यथार्थ से कटकर विभ्रम में जीती है। इस विभ्रम को बनाये रखना भी इस क़िस्म के खेल आयोजनों का एक मक़सद बन जाता है। इसलिए तमाम तरह के भ्रष्टाचार के उपरान्त भी आइपीएल जैसे खेल आयोजनों को शासक वर्ग द्वारा पूरी शह दी जाती है।

विशेष सामग्री

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति: मानव समाज की उन्नति में जब विज्ञान और प्रौद्योगिकी आम जनता के हथियार बने

सार्थक

माओ-त्से-तुङ और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में समाजवादी चीन ने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शुरुआत की। इस क्रान्ति ने समाजवादी संक्रमणकाल की मार्क्सवादी समझदारी में इज़ाफ़ा किया तथा क्रान्ति के सर्वहारा सिद्धान्त को और उन्नत स्तर पर पहुँचाया। 1966 से लेकर 1976 के बीच आये इस भूचाल के प्रघाती संघात को न सिर्फ़ चीन में बल्कि पूरे विश्व में महसूस किया गया। जल्द ही इसकी ऊर्जा ने दुनिया भर की संघर्षरत जनता को अन्याय के ख़िलाफ़ बग़ावत के लिए उत्प्रेरित करना प्रारम्भ कर दिया। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीनी समाज के विभिन्न क्षेत्रों में हुए बेजोड़ प्रयोगों को समझना, उनकी सफलताओं-असफलताओं से सीख लेने और उन्हें आज की ठोस परिस्थितियों में रचनात्मक तरीक़े से लागू करना सर्वहारा वर्ग की हिरावल शक्तियों के लिए एक ज़रूरी कार्यभार है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने एक समाजवादी व्यवस्था में वर्ग संघर्ष की आम और विशेष अभिलाक्षणिकताओं को उजागर करते हुए समाज में व्याप्त बुर्जुआ विचारों, प्रवृत्तियों और मान्यताओं के ख़िलाफ़ सतत् संघर्ष जारी रखने तथा मूलाधार व अधिरचना में सतत् क्रान्ति की अहमियत को समझाया। इस दौरान संस्कृति, कला से लेकर शिक्षा, विज्ञान आदि के क्षेत्रों में क्रान्तिकारी सर्वहारा कार्यदिशा और संशोधनवादी लाइन के बीच तीखा संघर्ष चला। इन संघर्षों की ऊर्जा ने सभी क्षेत्रों में कई असाधारण उपलब्धियाँ हासिल की।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी चीनी जनता ने नयी ऊँचाइयों को हासिल किया। कम्युनिस्ट पार्टी की अगुवाई में चीन की जनता ने पूरी दुनिया को यह दिखाया कि किस तरह एक समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत विज्ञान और प्रौद्योगिकी बुर्जुआ विज्ञान व प्रौद्योगिकी से कहीं उन्नत होती है। प्राकृतिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी को चीनी संशोधनवादियों ने वैसे ही "वर्ग संघर्ष से परे" दिखाने की कोशिश की जैसा उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में किया था। संशोधनवादियों की इस गैर-सर्वहारा कार्यदिशा का क्रान्तिकारी चीनी वैज्ञानिकों ने सख़्त विरोध किया था। विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत क्रान्तिकारियों ने विज्ञान के वर्ग चरित्र को रेखांकित करते हुए यह स्पष्ट किया कि एक बुर्जुआ समाज में विज्ञान और एक समाजवादी समाज में विज्ञान में गुणात्मक फ़र्क होता है। एक बुर्जुआ समाज में विज्ञान और प्रौद्योगिकी पूँजीपतियों के हाथों में होती है। पूँजीपति वर्ग विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास को मुनाफ़े के अधीन रखता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी मुनाफ़ा कमाने के अलावा बुर्जुआ राज्यसत्ता की हिफाज़त के लिए इस्तेमाल की जाती है। यह प्रक्रिया तमाम प्रतिरोधों के बर्बर दमन, सर्वहारा व आम मेहनतकश के आन्दोलनों की जासूसी तथा मुनाफ़े की होड़ में छेड़े गये युद्धों को जन्म देती है। मुनाफ़े की होड़ में ही पूँजीपति वर्ग विज्ञान और प्रौद्योगिकी को पर्यावरण विनाश का एक उपकरण बनाता है। लेकिन एक समाजवादी व्यवस्था में विज्ञान और प्रौद्योगिकी सर्वहारा वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के हाथों में होती है जो इसका इस्तेमाल इंसानों की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए करती है। साथ ही मार्क्सवाद के अनुसार इंसानी समाज प्रकृति का ही विस्तार होता है इसलिए समाजवादी समाज के केन्द्र में इंसान और इंसानी ज़रूरतों के साथ-साथ प्रकृति भी आती है। क्रान्तिकारियों और संशोधनवादियों के बीच इस क्षेत्र में चला वर्ग संघर्ष महज़ वैज्ञानिक अनुष्ठानों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि मूल सवाल यह था कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी विचारधारा का स्थापित होगा या बुर्जुआ संशोधनवादी विचारधारा का प्राधिकार स्थापित होगा। अपने वर्चस्व को क़ायम रखने के लिए संशोधनवादी वैज्ञानिकों, बुद्धिजीवियों और टेक्नोक्रैट्स के द्वारा इस झूठ का प्रचार किया गया कि मार्क्सवाद प्राकृतिक विज्ञान के नियमों और सिद्धान्तों की जगह नहीं ले सकता। इस झूठ का भण्डाफोड़ करते हुए क्रान्तिकारी वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों ने यह स्पष्ट किया कि मार्क्सवाद प्राकृतिक विज्ञान के विशेष नियमों और सिद्धान्तों की जगह लेने की बात नहीं करता बल्कि मार्क्सवाद सिर्फ़ एक पहुँच और पद्धति प्रदान करता है जो हमें प्राकृतिक और सामाजिक परिघटनाओं को समझने के लिये मदद करते हैं। संशोधनवादियों द्वारा यह झूठ एक सोची समझी साज़िश के तहत फैलाया जा रहा था ताकि यह दिखाया जा सके कि प्राकृतिक विज्ञान के

क्षेत्र में मार्क्सवाद लागू नहीं होता इसलिए यह एक सार्वभौमिक सिद्धान्त नहीं है। यह प्रकारान्तर से मार्क्सवादी सिद्धान्त पर हमला था। "मार्क्सवाद की नींव रखते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने न केवल वर्ग-संघर्ष के अनुभवों का समाहार किया बल्कि प्राकृतिक विज्ञान की बहुमूल्य उपलब्धियों का भी सामान्यीकरण किया। मार्क्सवाद प्राकृतिक विज्ञान सहित समग्र मानव ज्ञान का क्रिस्टलीकरण है। जैसा कि चेयरमैन माओ ने कहा था : "मार्क्स ने प्रकृति, इतिहास और सर्वहारा क्रान्ति का गहन अध्ययन कर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद और सर्वहारा क्रान्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।" (Repulsing the Right Deviationist Wind in the Scientific and Technological Circles, Mass Criticism Group of Peking and Tsinghua Universities, Peking Review, April 30, 1976, अनुवाद हमारा) प्राकृतिक विज्ञान के अखाड़े में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभुत्व क़ायम करने के लिए मार्क्स की गणित की पाण्डुलिपियाँ (mathematical manuscripts) और एंगेल्स की 'प्रकृति का द्वन्द्वात्मकता' (dialectics of nature) का व्यापक प्रचार किया गया। गणित में रुचि रखने वाले छात्रों और शिक्षकों के बीच मार्क्स की गणित की पाण्डुलिपियाँ ख़ासी लोकप्रिय हुई। देश भर में गणित अध्येताओं के बीच गणित की पाण्डुलिपियों की पढ़ाई और समझदारी ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया। इन पाण्डुलिपियों में मार्क्स ने 'कैलकुलस' और ख़ास तौर पर 'डिफरेंशियल कैलकुलस' की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्लेषण की नींव रखी है। लगभग उसी समय अब्राहम रॉबिनसन ने 'नॉन स्टैण्डर्ड ऐनालिसिस' का प्रयोग करके 'इन्फिटेसिमल' के अस्तित्व को सिद्ध किया जो गणित में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को सिद्ध करता है। प्राकृतिक विज्ञान के सबसे अमूर्त रूप - गणित - के सम्बन्ध में यह संशोधनवाद के ऊपर मार्क्सवाद की एक जीत थी।

क्रान्तिकारी मज़दूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की बुनियादी शिक्षाओं को आत्मसात कर उनका वैज्ञानिक शोधों में सृजनात्मक इस्तेमाल किया। इस दौरान ही मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद का अध्ययन भी इस जन आन्दोलन का हिस्सा बना। कारख़ानों, उत्पादन ब्रिगेडों और कम्यूनों में 'दर्शन अध्ययन समूह' बने जहाँ मज़दूर और किसानों ने न केवल मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद का गम्भीर अध्ययन किया बल्कि ख़ुद कई दर्शन सम्बन्धी लेख भी लिखे। चीन के सर्वप्रथम फ्रिक्वेन्सी घड़ी (frequency clock) का आविष्कार करने वाले वैज्ञानिक ने भी माओ के दर्शन सम्बन्धी दो महत्वपूर्ण लेख- 'व्यवहार के बारे में' तथा 'अन्तरविरोध के बारे में'- का अध्ययन किया और उससे सीखते हुए एक नयी क़िस्म की फ्रिक्वेन्सी घड़ी का निर्माण किया। आविष्कारक फ़ांङ फ़ू-केन एक पेन फैक्ट्री में बस एक अप्रेन्टिस थे जिनका घड़ी बनाने में कोई ख़ास अनुभव नहीं था। चीन में फ्रिक्वेन्सी घड़ी विदेश से ही निर्यात होती थी। चीन में फ्रिक्वेन्सी घड़ी बनाने की परियोजना की शुरुआत होने पर संशोधनवादी विचारधारा से ग्रस्त वैज्ञानिकों और तकनीशियनों ने विदेशी नमूने की नक़ल करने की कोशिश की जो सफल नहीं रही। फ़ांङ ने विदेशी चीज़ों और नमूनों की अन्ध नक़ल करने की प्रवृत्ति का मुखर विरोध किया और चीन की ठोस परिस्थितियों का ठोस मूल्यांकन किया। उन्होंने व्यवहार में उतरकर चीज़ों को बदलने की प्रक्रिया में चीज़ों को समझने की मार्क्सवादी पद्धति का अनुसरण किया और आख़िरकार चीन की पहली स्वदेशी फ्रिक्वेन्सी घड़ी बनाने में सफल रहे। यह घड़ी विदेशी नमूनों के मुक़ाबले ज़्यादा सरल और ज़्यादा सटीक थी। इसी तरह शैनदोंङ प्रान्त के नानवांङ कम्यून के याओ शीह-चांङ ने माओ की दर्शन सम्बन्धी रचनाओं और उनकी शिक्षाओं को आत्मसात कर उन्हें अपने कम्यून के बादाम उत्पादन में रचनात्मक तरीक़े से लागू किया और उपज में कई गुना बढ़ोत्तरी हासिल की। इसके पहले परिस्थितियों का ठोस मूल्यांकन किये बिना याओ ने पड़ोसी ब्रिगेड की बुवाई पद्धति का अनुसरण किया जिसके कारण उन्हें और उनके ब्रिगेड को उपज में भारी गिरावट झेलनी पड़ी। अपनी ग़लती का समाहार करते हुए माओ के दर्शन सम्बन्धी लेखों का अध्ययन किया और उसे अपने वैज्ञानिक परीक्षण का मार्गदर्शक बनाया।

"यदि कोई मनुष्य किसी चीज़ को जानना चाहता है तो उसके सामने सिवाय इसके और कोई दूसरा रास्ता नहीं कि वह उस चीज़ के सम्पर्क में आये, यानी उसके वातावरण में रहे (अमल करे)। यदि ज्ञान हासिल करना है तो वास्तविकता को बदलने के व्यवहार में भाग लेना होगा। यदि नाशपाती का स्वाद जानना चाहते हैं तो स्वयं उसे खाकर उसके वास्तविक रूप को बदलना होगा।" (माओ त्से-तुङ, व्यवहार के बारे में)

माओ के इस उद्धरण से सीख लेते हुए याओ ने दो बादाम के पौधों को चुना और बारीकी से उनके विकास का निरीक्षण किया, बादाम के पौधे के विकास की प्रक्रिया का संचालन करने वाले नियमों को समझा, उनके विकास की प्रक्रिया में आने वाली समस्याओं की पहचान की और उन समस्याओं को हल करने की तरक़ीब ढूँढ निकाली। द्वन्द्वात्मक तरीक़े से एक अन्तरविरोध के हल होने के बाद नये-नये अन्तरविरोध याओ और उनकी ब्रिगेड के सामने लगातार प्रकट होते गये। इन अन्तरविरोधों को हल करने की प्रक्रिया में उन्होंने बादाम की खेती से जुड़ी कई नयी और कुशल पद्धतियों की खोज की। (Yao Shih-Chang, "How I Use Chairman Mao's Philosophical Thinking to Guide Scientific Experiment," Peking Review 46 (Nov. 13, 1970))

फ़ांङ फ़ू-केन की स्वदेशी फ्रिक्वेन्सी घड़ी बनाने में क़ामयाबी और याओ शीह-चांङ की बादाम की उपज बढ़ाने के लिए किये गये वैज्ञानिक परीक्षण मार्क्सवादी दर्शन को वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकी शोध में प्रत्यक्ष रूप से लागू करने के मामले में प्रचलित मिसाल बने।

साथ ही फ़ांङ फ़ू-केन और याओ शीह-चांङ ने यह भी साबित

कर दिया कि मज़दूर और किसान शारीरिक श्रम करने के साथ-साथ बौद्धिक श्रम और वैज्ञानिक शोध में भी हिस्सा ले सकते हैं। महज़ हिस्सा ही नहीं, मज़दूर और किसान कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व और मार्क्सवाद की रोशनी में विज्ञान और प्रौद्योगिकी को उच्च स्तरों तक विकसित भी कर सकते हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान अस्तित्व में आयी 'क्रान्तिकारी कमेटियों' के द्वारा मज़दूरों और ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों ने उत्पादन के सभी क्षेत्रों में प्रबन्धन को अपने हाथों में ले लिया। प्रबन्धन के साथ-साथ अब मज़दूर और ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों ने कारखानों और कम्यूनों में वैज्ञानिक और तकनीकी शोध में भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया और उत्पादकता को कई गुना बढ़ाया। इसके सबसे मशहूर मॉडल बने ताचिंग तेल क्षेत्र और तचायी कम्यून। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान देश के मज़दूरों-किसानों को सर्वहारा राजनीति को कमान में रख कर उत्पादन बढ़ाने और प्रौद्योगिकी विकास के लिये प्रेरित करने के मक़सद से "उद्योग में ताचिंग से सीखो!" और "कृषि में तचायी से सीखो!" के नारे दिये गये। तचायी कम्यून ने न केवल फ़सल उत्पादन में भारी बढ़ोत्तरी की बल्कि विशालकाय बाँध, नहर और जल सेतु का भी निर्माण किया। तचायी और ताचिंग ने पूरी दुनिया को एक समाजवादी समाज में जनता की सामूहिक शक्ति और सृजनात्मकता की एक बेहतरीन झलक दिखायी।

'बेयरफुट डॉक्टर्स' और 'ग्रामीण सहकारी स्वास्थ्य योजना' स्वास्थ्य और विज्ञान में क्रान्तिकारी जनदिशा लागू करने के मामले में सबसे बेहतरीन मिसाल है। न केवल दुनिया भर के डॉक्टरों और स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की बल्कि विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने इसे जनस्वास्थ्य के क्षेत्र में एक मॉडल भी माना है। 'बेयरफुट डॉक्टर्स' (नंगे पाँव चलने वाले स्वास्थ्यकर्मी) की व्यवस्था ने स्वास्थ्य सेवा को एक जनआन्दोलन में बदल दिया जिसके तहत 17 लाख से ज़्यादा स्वास्थ्यकर्मियों को प्रशिक्षित करके ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा में नियुक्त किया गया। इनमें से आधी से ज़्यादा तादाद महिलाओं की थी। 'बेयरफुट डॉक्टर्स' अक्सर छोटे व निम्न-मँझोले किसान, मज़दूर घरों से आते थे। इन्हें माध्यमिक स्कूली शिक्षा के बाद तीन से छह महीने पश्चिमी चिकित्सा तथा पारम्परिक चीनी चिकित्सा प्रणाली में प्रशिक्षण दिया जाता था। 'बेयरफुट डॉक्टर' के रूप में इनकी भर्ती किसी प्रवेश परीक्षा या शिक्षा आधार पर नहीं बल्कि कम्यूनों और उत्पादन ब्रिगेड के सुझाव के आधार पर होती थी और काम करने के दौरान सालाना उनके कामों का मूल्यांकन भी कम्यून व उत्पादन ब्रिगेड के सदस्यों के द्वारा ही किया जाता था। ये 'बेयरफुट डॉक्टर्स' सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में घूम कर स्वच्छता, कचरे से निपटारा, पौष्टिक आहार, साफ़ पानी आदि के फ़ायदों के बारे में प्रचार करते थे और लोगों को जड़ी-बूटियों तथा पारम्परिक चीनी औषधियों का इस्तेमाल करना सिखाते थे। पूँजीवादी देशों के स्वास्थ्य प्रणाली के विपरीत समाजवादी चीन में 'बेयरफुट डॉक्टर्स' के माध्यम से इलाज़ से ज़्यादा रोकथाम को महत्व दिया गया। इस दौरान नदी, नालों, गड्ढ़ों आदि को साफ़ करने के लिए, पर्यावरणीय प्रदूषण को रोकने, कीटाणु और महामारी पर क़ाबू पाने के लिए बड़े पैमाने पर देश भर में कई जन अभियान चलाये गये जिसमें 'बेयरफुट डॉक्टर्स' की अग्रणी भूमिका रही। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के अन्त तक चीन से हैज़ा, क्षय रोग, टाइफाइड और लाल बुख़ार जैसे रोगों का सम्पूर्ण निवारण हो चुका था और मलेरिया तथा हुकवर्म पर काफ़ी हद तक क़ाबू पा लिया गया था।

स्वास्थ्य सेवा की तरह भूकम्प विज्ञान को भी एक जन आन्दोलन में तब्दील कर दिया गया। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि चीन भूकम्प का प्रकोप नियमित तौर पर झेलता है। चीन में भूकम्प निगरानी व्यवस्था सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान 1966 में शुरू हुई। सांस्कृतिक क्रान्ति के अन्त तक चीन में दस हज़ार से ज़्यादा भूकम्प विज्ञान के विशेषज्ञ थे। एक लाख से ज़्यादा तकनीशियन और सहयोगी भूकम्प विज्ञान से जुड़े दस हज़ार केन्द्रों पर कार्यरत थे। 'ओपन डोर' और "आधा काम-आधी पढ़ाई" के नियम पर बनी शिक्षा व्यवस्था ने भूकम्प पर निगरानी रखने में सामूहिक पहलक़दमी स्थापित करने में अपना योगदान दिया। भूकम्प वैज्ञानिक अपने शोध कार्य में शिक्षा व्यवस्था की मदद से मज़दूरों और किसानों को भी शामिल कर सकते थे। भूकम्प विज्ञान के विभिन्न विभागों में काम करने वाले इन सहयोगियों और स्वयंसेवकों को प्रसिद्ध विज्ञान इतिहासकार जोसेफ़ नीडम ने 'बेयरफुट सीस्मोलॉजिस्ट्स' का नाम दिया। यह 'बेयरफुट डॉक्टर्स' से ही लिया गया नाम था। उन्नत पूँजीवादी देशों के समान 'सुपर कम्प्यूटर्स' तथा अन्य अत्याधुनिक टेक्नॉलोजी के अभाव के बावजूद समाजवादी चीन ने जनता की पहलक़दमी पर प्रभावशाली भूकम्प निगरानी व्यवस्था खड़ी की। 1975 में हैचेंग भूकम्प की चेतावनी नौ घण्टे पहले ही दे दी गयी जिसके कारण लाखों ज़िन्दगियों को बचाया जा सका। चीनी भूकम्प निगरानी व्यवस्था की निपुणता का यह सबसे श्रेष्ठ उदहारण है जिसके बाद दुनिया भर के भूकम्प वैज्ञानिकों ने चीनी भूकम्प निगरानी प्रणाली का लोहा माना।

मौसम विज्ञान के क्षेत्र में भी भूकम्प विज्ञान की तरह ही जन दिशा लागू की गयी। हर कम्यून को अपना मौसम निगरानी केन्द्र स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान देश में 16,000 मौसम केन्द्र क्रियाशील थे।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान कृषि विज्ञान और कृषि सम्बन्धी टेक्नॉलोजी भी अपने विकास पथ पर तेज़ी से बढ़ रही थी। सांस्कृतिक क्रान्ति के अन्त तक चीन में एक करोड़ चालीस लाख कृषि-टेक्नीशियनों की फौज़ तैयार हो चुकी थी जिसने कृषि सम्बन्धी व्यवहारिक ज्ञान के साथ-साथ एक हद तक कृषि और कृषि-टेक्नॉलोजी सम्बन्धी सैद्धान्तिक ज्ञान भी हासिल कर लिया था। 1973 तक चीन में 27 लाख हेक्टेयर क्षेत्रफल में फैला एक विस्तृत कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिक तन्त्र स्थापित हो चुका

था जिसके तहत उच्च गुणवत्ता वाले बीज, संकर फसल, पशु पालन, मत्स्य पालन, वानिकी आदि के शोध कार्य के लिए ज़मीन प्रदान की गयी थी। यह कुल जुती हुई ज़मीन का 2.5 प्रतिशत था। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान हर उत्पादन ब्रिगेड में एक वैज्ञानिक और तकनीकी शोध दल हुआ करता था।

ग्रामीण क्षेत्रों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास में 'मीन-बान' स्कूल व्यवस्था ने एक अहम भूमिका निभायी। शिक्षा को उत्पादक शारीरिक श्रम के साथ जोड़ने के उद्देश्य से यह व्यवस्था अस्तित्व में आयी। इन स्कूलों को 'आधा काम-आधी पढाई' के नियम पर चलाया जाता था जिसके अनुसार छात्र आधा समय पढ़ाई करते थे और आधा समय कम्यून के खेतों और कारखानों में शारीरिक श्रम करते थे। कृषि टेक्नीशियनों का एक बड़ा हिस्सा इन 'मीन बान' श्रेणी के माध्यमिक टेक्निकल स्कूलों से आता था। इसके अलावा सिद्धान्त और व्यवहार के बीच की खाई को भरने और स्थानीय समस्याओं का रचनात्मक समाधान निकालने के मक़सद से स्कूल पाठ्यक्रम में भी आमूलचूल बदलाव लाये गये। अब स्थानीय स्कूल की किताबों में मिट्टी की गुणवत्ता, सिंचाई, बीजों की गुणवत्ता, विद्युतीकरण आदि के बारे में विस्तृत चर्चा की जाती थी। साथ ही महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान माओ और कम्युनिस्ट पार्टी के "छोटे और निम्न-मँझोले किसानों से सीखो" के नारे से प्रेरित हो कर करोड़ों छात्र और बुद्धिजीवी कुछ महीनों से लेकर कुछ सालों तक ग्रामीण क्षेत्रों में जा कर रहे। मज़दूरों और किसानों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करते हुए इन छात्रों और बुद्धिजीवियों ने ग्रामीण क्षेत्रों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विस्तार और विकास में अपना योगदान दिया। 'मीन-बान' स्कूल व्यवस्था और शिक्षा को उत्पादक शारीरिक श्रम से जोड़ने की नीति के बारे में हमने अपने पिछले अंक में विस्तार से चर्चा की थी। ज़्यादा जानकारी के लिए पाठक हमारा पिछला अंक पढ़ सकते हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान कृषि-टेक्नोलॉजी में प्रगति का एक प्रमाण यह है कि 1965 से 1978 के बीच कुल रोपी हुई ज़मीन में सिंचित ज़मीन का अनुपात 30.5 प्रतिशत से बढ़ कर 45 प्रतिशत हो गया जिसमें से 25 प्रतिशत ज़मीन बिजली सिंचित थी। 1965 में जहाँ महज़ 15.6 प्रतिशत कृषि ज़मीन पर ट्रैक्टर का इस्तेमाल होता था वहीं 1978 में यह आँकड़ा 40.7 प्रतिशत तक जा पहुँचा। इस दौरान बड़े और मध्यम ट्रैक्टरों की संख्या में आठ गुना बढ़ोत्तरी हुई और छोटे ट्रैक्टरों की संख्या में 343 गुना बढ़ोत्तरी हुई। अगर हम 1979 में चीन और भारत के अनाज उत्पादन के आँकड़ों की तुलना करते हैं तो इस क्षेत्र में समाजवादी चीन की उपलब्धि की एक बेहतर तस्वीर सामने आती है। 1979 में जहाँ चीन 4,245 किलो प्रति हेक्टेयर धान, 2,138 किलो प्रति हेक्टेयर गेहूँ और 2,985 किलो प्रति हेक्टेयर मकई उत्पादन करता था तो वहीं भारत 2,049 किलो प्रति हेक्टेयर धान, 1,437 किलो प्रति हेक्टेयर गेहूँ और 1,103 किलो प्रति हेक्टेयर मकई उत्पादन करता था। याद रहे की 1979 तक भारत में तथाकथित हरित क्रान्ति हो चुकी थी। मगर इसके बावजूद चीन भारत के मुक़ाबले दुगना अनाज उत्पादन कर रहा था। यह कृषि टेक्नोलॉजी की उन्नति और जनता की पहलक़दमी के ज़रिये अनाज उत्पादन को भारी मात्रा में बढ़ाना और 'बेयरफुट डॉक्टर्स' के तन्त्र के ज़रिये स्वास्थ्य को एक जनआन्दोलन में रूपान्तरित करने का नतीजा था कि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान जीवन प्रत्याशा (life expectancy) में बड़ा इज़ाफ़ा हुआ। 1960 में चीन की जनता की औसत जीवन प्रत्याशा 46.6 वर्ष थी जब कि 1976 तक यह बढ़ कर 65 वर्ष (कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि 1976 में सटीक जीवन प्रत्याशा 69 वर्ष थी) हो गयी वहीं दूसरी ओर 1976 में भारत की औसत जीवन प्रत्याशा 53 साल थी।

1965 में, यानी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वसंध्या में, चीन कृत्रिम इन्सुलिन बनाने वाला पहला देश बन गया। यह उपलब्धि न केवल चीन बल्कि समूचे जैव-रासायनिक जगत के लिए एक बड़ी क़ामयाबी थी। यह आविष्कार मनुष्य द्वारा जीवन के उद्भव को समझने की दिशा में एक बड़ा क़दम था। 1958 में महान अग्रवर्ती छलाँग से प्रेरित होकर शंघाई जीव-रसायन संस्थान, चीनी विज्ञान अकादमी और पेकिंग विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने कृत्रिम इन्सुलिन बनाने की योजना की शुरुआत करने का फ़ैसला लिया। मगर शुरू से ही इस प्रकल्प को ज़रूरी उपकरणों और कच्चे माल की कमी का सामना करना पड़ा। इस प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करते हुए वैज्ञानिकों ने माओ की शिक्षाओं का अनुसरण किया और टेक्नॉलोजी के बदले इंसान और इंसानी सृजनात्मकता को अपनी योजना के केन्द्र में रखा। नतीजतन इस परियोजना में आठ अनुष्ठानों के क़रीब एक हज़ार वैज्ञानिक और विशेषज्ञ तथा उनके अलावा हज़ारों सहयोगी काम करते रहे। कृत्रिम इन्सुलिन का आविष्कार सिर्फ़ प्राकृतिक विज्ञान ही नहीं बल्कि दर्शन शास्त्र के लिए भी एक अति महत्वपूर्ण खोज थी। जीवन के उद्भव का सवाल भौतिकवाद और भाववाद के बीच हमेशा से ही एक संघर्ष का मुद्दा रहा है। भाववादियों का यह मानना है कि जीवन का सृजन भगवान ने किया है। वहीं भौतिकवादियों का यह मानना है कि जीवन का उद्भव निर्जीव अजैव पदार्थ की लाखों सालों की गति और क्रमिक विकास से ही हुआ है। कृत्रिम इन्सुलिन का आविष्कार जीवन के उद्भव के सवाल पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवस्थिति को प्रमाणित करता है।

महान अग्रवर्ती छलाँग और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान अन्तरिक्ष और सामरिक क्षेत्र में भी कई महत्वपूर्ण वैज्ञानिक शोध और तकनीकी विकास हुआ। 1964 में चीन परमाणु बम अख़्तियार करने वाला दुनिया का पाँचवा देश बन गया और महज़ तीन लगातार साल बाद, यानी 1967 में हाइड्रोजन बम का सफल परिक्षण करने वाला चौथा देश बना। 1970 में चीन ने अपना पहला कृत्रिम उपग्रह का प्रक्षेपण किया

और यह क़ामयाबी हासिल करने में चौथा देश था। समाजवादी चीन ने इस दौरान न केवल वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकी की तीव्र विकास के ज़रिये जनता के सभी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने का सामर्थ्य हासिल कर लिया बल्कि तीसरे दुनिया के देशों की भी वैज्ञानिक और तकनीकी मदद पहुँचाई। इसका सबसे जाना माना उदहारण है ज़ाम्बिया-तंज़ानिया रेल परियोजना जो समाजवादी चीन की सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयवाद और साम्राज्यवाद व नव-उपनिवेशवाद के खिलाफ़ संघर्षरत जुझारू जनता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का एक श्रेष्ठ उदाहरण था। 1970 से 1976 के बीच, महज़ छह सालों में 50,000 से ज़्यादा चीनी टेक्नीशियनों और मज़दूरों की मदद से 1860 किलोमीटर इस लम्बी रेल परियोजना का निर्माण किया गया।

यहाँ हमने कुछ उदाहरणों की मदद से समाजवादी चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान हुई वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विकास का एक झलक प्रस्तुत करने की कोशिश की है। इस उथल-पुथल भरे दौर में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र की सारी उपलब्धियों और उनसे जुड़े सारे संघर्षों और बहसों के बारे में बात करना इस लेख में मुमकिन नहीं था। इस लेख का मूल लक्ष्य पाठकों को इस बात का एक संक्षिप्त परिचय देना था कि किस तरह पूँजीवादी व्यवस्था के विपरीत एक समाजवादी व्यवस्था में विज्ञान और प्रौद्योगिकी जनता के बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने में अपना योगदान देती है। एक समाजवादी समाज में विज्ञान पूँजी के जकड़ से मुक्त हो कर जनता के बीच पैठ बनाता है और आम मेहनतकश जनता विशेषज्ञों के साथ विज्ञान की प्रगति के वाहक़ बनते हैं और लम्बे दौर में स्वयं विशेषज्ञ भी बनते हैं। कुछ वैज्ञानिक नहीं बल्कि करोड़ों-करोड़ मज़दूर और मेहनतकश वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विकास के प्रेरक शक्ति बनते हैं। समाजवादी चीन में विज्ञान और प्रौद्योगिकी से जुड़े हर छोटे बड़े काम को जनता की पहलक़दमी, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के मार्गदर्शन में अंजाम दिया गया। चीन के क्रान्तिकारी वैज्ञानिक और विशेषज्ञ मजदूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर शारीरिक श्रम में सक्रिय भागीदारी करते हुए वैज्ञानिक शोध कार्य करते रहे। साथ ही मज़दूर और छोटे किसान ने शारीरिक श्रम करने के साथ साथ बौद्धिक श्रम करना भी सीखा और वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी शोध में पूरे जोश के साथ हिस्सा लिया। व्यवहार-सिद्धान्त-व्यवहार के द्वन्द्वात्मक गति से ही विज्ञान और प्रौद्योगिकी का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विकास सम्भव है और यह एक समाजवादी व्यवस्था में ही मुमकिन है। इसके अलावा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की उपलब्धियों को बदनाम करने की कोशिश दुनिया भर के संशोधनवादी और बुर्जुआ बुद्धिजीवी और पत्रकार पिछले पचास साल कर रहे हैं। वे यह झूठ परोसते हैं कि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीन में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक विकास पूरी तरह से ठप्प हो गया था। इस लेख से पाठक यह खुद ही देख सकते हैं कि यह दावा सरासर बेबुनियाद है और इसका मूल मकसद सांस्कृतिक क्रान्ति, समाजवादी चीन और मार्क्सवाद को बदनाम करना है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीन में आये बुद्धिजीवी और पत्रकारों के लेखों और विवरणों से यह साफ़ था कि पूँजीवादी देशों के वैज्ञानिक और बुद्धिजीवी भी चीन में हो रहे वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी प्रयोगों की सराहना कर रहे थे। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति तथा अन्य समाजवादी प्रयागों के गौरवशाली इतिहास के ऊपर आये दिन जो इस तरह के आरोप लगाये जाते रहे हैं लोगों के सामने उसकी सही तस्वीर प्रस्तुत करना क्रान्तिकारी ताकतों के लिए अनिवार्य कार्य है ताकि संजीदा छात्रों-नौजवानों को समाजवादी प्रयोगों की एक साफ़ और वस्तुपरक समझदारी मिल सके। यह लेख इसी दिशा में एक छोटा प्रयास है।

●

(पेज 8 से जारी)

छात्रों-नौजवानों का जो गुस्सा सड़कों पर दिखायी दिया वह केवल सेना भर्ती में ठेकाकरण के ख़िलाफ़ नहीं था। बल्कि इस योजना के ज़रिये बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ युवाओं में लम्बे समय से पनप रहा गुस्सा सतह पर आ गया। देश में बेरोज़गारी आज सारे रिकॉर्ड तोड़ रही है। सीएमआईई की हालिया रिपोर्ट के मुताबिक़ जून के महीने में लगभग 1.3 करोड़ लोगों को रोज़गार मिलना बन्द हो गया है। इसमें से ज़्यादातर मज़दूर असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं। भारत के गाँवों में बेरोज़गारी दर 8.3 फ़ीसदी और शहरों में 7.9 फ़ीसदी तक पहुँच चुकी है। निजी क्षेत्र में भी रोज़गार सृजन की दर नगण्य है और जो भर्तियाँ हो भी रही हैं वे ठेका या कैज़ुअल मज़दूर के रूप में हो रही हैं, जिनमें मज़दूरों से ग़ुलामों की तरह काम करवाया जाता है। सरकारी नौकरियाँ तो लुप्तप्राय ही हो चुकी हैं और जो बची हैं वे भी समाप्त की जा रही हैं। पिछले 6 सालों में रेलवे के 72 हज़ार खाली पदों को समाप्त किया जा चुका है और 81 हज़ार पदों को समाप्त करने का प्रस्ताव शासन को भेजा गया है। शासन से स्वीकृति मिलते ही ये पद भी समाप्त हो जायेंगे। पर्चा लीक, धाँधली परीक्षाओं में आम नियम बन चुका है।

ऐसा भी नहीं है कि बेरोज़गारी की इस भयानक स्थिति के ख़िलाफ़ प्रतिरोध नहीं है। पिछले दिनों रेलवे एनटीपीसी, यूपीएसआई और उत्तर प्रदेश में 69,000 शिक्षक भर्ती के ख़िलाफ़ छात्रों ने एक सशक्त प्रतिरोध दर्ज़ कराया था। बेरोज़गारी, महँगाई, भुखमरी की शिकार जनता का गुस्सा जगह-जगह स्वतःस्फूर्त रूप में फूट रहा है। किसी क्रान्तिकारी विकल्प के न होने के कारण यह आन्दोलन जल्द ही बिखर भी जा रहा है। इसलिए बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ देशव्यापी जुझारू आन्दोलन खड़ा करने में इंसाफ़पसन्द छात्रों-युवाओं को पूरी ताक़त से लग जाना चाहिए।

सामयिकी

बुलडोज़र संस्कृतिः फ़ासीवादी दमन का नया औज़ार

अविनाश

हज़ार आँसू हज़ार आहें
दो जोड़ी सपने दो मुट्ठी खुशियाँ एक खिलौना,
दो तीन सिक्के और चार बर्तन।
एक लंगड़ी-सी कुर्सी, एक तख़्ती की टेबुल
एक क़ुरान मज़ीद एक छोटी सी रेहाल
मरहूम दादा की तस्बीह, नानी की ऐनक
कुछ किस्से कहानियाँ कुछ ज़िन्दा रूहें
अब्बा अम्मी की उम्र भर की मेहनत
उम्र भर की हसरत
ये घर जो मलबे के ढेर में बदल चुका है
सब कुछ है इसके नीचे
और इस मलबे के ढेर के बहुत नीचे है एक
देश, मेरा देश! तुम्हारा देश!
-अमीर अज़ीज़ (मलबे का ढेर)

आज पूरे देश भर में बुलडोज़र फ़ासीवादी दमन का नया प्रतीक चिह्न बन चुका है। केन्द्र में मोदी के सत्तासीन होने के बाद से सत्ता की शह पर फ़ासीवादी ताण्डव का जो खेल फ़र्ज़ी मुक़दमों-गिरफ़्तारियों से शुरू हुआ वह फ़र्ज़ी एनकाउण्टर से होते हुए बुलडोज़र संस्कृति तक पहुँच चुका है। बिना जाँच, बिना अदालती प्रक्रिया के असंवैधानिक तरीक़े से अपने राजनीतिक विरोधियों, जनता के पक्ष में खड़े बुद्धिजीवियों और विशेषकर अल्पसंख्यकों के घरों पर बुलडोज़र चलवाकर एक दहशत का माहौल तैयार किया गया है। पिछले कुछ सालों में भाजपा की हुक़्मरानी वाले राज्यों में मुसलमानों के घरों, दुकानों आदि को अतिक्रमण हटाने की आड़ में निशाना बनाया जा रहा है। उत्तर प्रदेश की फ़ासीवादी योगी सरकार द्वारा शुरू किये गये इस फ़ासीवादी ट्रेण्ड को गोदी मीडिया ने ख़ूब हाइप दिया और योगी आदित्यनाथ को 'बुलडोज़र बाबा' के रूप में स्थापित कर फ़ासीवादी दमन, उत्पीड़न और दहशत को एक नये मुक़ाम पर पहुँचा दिया। अब यह फ़ासीवादी ट्रेण्ड पूरे देश भर में फैल चुका है और फ़ासिस्टों के बीच में 'बुलडोज़र मामा', 'बुलडोज़र चाचा' कहलाने की आपसी कुत्ताघसीटी भी शुरू हो गयी है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान फ़ासिस्टों द्वारा बुलडोज़र का राजनीतिकरण कर इसे भय और उन्माद की मशीन में बदल दिया गया है। उत्तर प्रदेश की योगी सरकार द्वारा शुरू की गयी 'बुलडोज़र संस्कृति' मध्यप्रदेश, गुजरात, दिल्ली, राजस्थान, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, बिहार, झारखण्ड सहित देश के विभिन्न प्रदेशों में विरोध की हर आवाज़ को बेरहमी से कुचलने का फ़ासीवादी औज़ार बन गयी है। अभी हाल ही में सम्पन्न हुए उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव में फ़ासिस्टों ने बुलडोज़र का चुनावी रैलियों में इस्तेमाल कर फ़ासीवादी संस्कृति का बेशर्मी से डंके की चोट पर ख़ूब प्रदर्शन किया। गुजरात और मध्यप्रदेश विधानसभा चुनाव की तैयारी के मद्देनज़र फ़ासिस्टों के प्रचार से प्रभावित बहुसंख्यक आबादी के धर्मोन्माद को तुष्ट करने के लिए चुनावी प्रचार में इस्तेमाल किया जा रहा है। इतना ही नहीं साम्राज्यवादी लुटेरों के एक सरगना ब्रिटिश प्रधानमन्त्री बोरिस जॉनसन को भी बुलडोज़र पर बैठाकर घुमाया गया।

2017 में उत्तर प्रदेश में सत्तासीन होते ही योगी सरकार 'क़ानून व्यवस्था' को दुरुस्त करने, प्रदेश को भयमुक्त बनाने और क्राइम कण्ट्रोल के नाम पर 'ठोंक दो' (एनकाउण्टर) की अघोषित फ़ासीवादी नीति पर अमल करना शुरू किया और इस प्रकार अपराध करने तथा भय फैलाने की सारी ज़िम्मेदारी प्रदेश सरकार और पुलिस महकमे ने अपने लिए सुरक्षित कर ली है। इस नीति के तहत योगी सरकार द्वारा अल्पसंख्यक समुदाय और राजनीतिक विरोधियों के ख़िलाफ़ ज़ुल्म के नये-नये कीर्तिमान खड़े किये गये, अदालती न्याय की जगह पुलिसिया न्याय ने ले लिया। प्रदेश में राजनीतिक हत्याओं का ग्राफ़ दिन प्रति दिन ऊँचा उठता जा रहा है। मार्च 2017 से अप्रैल 2022 के बीच प्रदेश में 9,434 एनकाउण्टर हुए हैं जिसमें 156 तथाकथित अपराधी मारे गये हैं। दरअसल यह पुलिस और प्रदेश सरकार द्वारा त्वरित न्याय के नाम पर की जाने वाली हत्याएँ है, जिसका न तो कोई सुराग़ है और न ही चर्चा। उलटे मीडिया योगी सरकार और प्रशासन के हाथों पर लगे ख़ून के धब्बे को साफ़ कर रही है और योगी आदित्यनाथ को एक "मस्कुलर नेता" और "सख़्त प्रशासक" के रूप में प्रोजेक्ट करने में मशग़ूल है।

बुलडोज़र के दौर से पहले मुसलमानों को सज़ा देने का काम फ़ासिस्ट, फ़ासिस्टों द्वारा उकसायी गयी भीड़ और पुलिस (या तो सीधे-सीधे ख़ुद ही उन्हें सज़ा देकर या अपराध की अनदेखी कर इसपर अपना मूक समर्थन देकर) किया करती थी लेकिन सम्पत्तियों को ढहाने में न सिर्फ़ पुलिस की भागीदारी होती है, बल्कि इसमें नगरपालिका अधिकारियों, मीडिया और अदालतों की पक्षधरता भी खुल के सामने आ जाती है।

भारत की बेहद जटिल, महँगी, लम्बी और श्रमसाध्य "भारत की लोकतान्त्रिक न्याय व्यवस्था" अपनी पारी में सत्तासीन फ़ासिस्ट ताकतों के लिए "त्वरित न्याय", "क़ानून व्यवस्था" को दुरुस्त करने और "क्राइम कण्ट्रोल" की आड़ में राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं और अपने धार्मिक उन्माद की राजनीति को हवा देने के लिए अल्पसंख्यक समुदाय के विरुद्ध एक नया 'फ़ासिस्ट जस्टिस डिलीवरी सिस्टम' विकसित करने का मौका देती है। यह फ़ासीवादी न्याय राजकीय अपराध को एक प्रकार से मान्यता देकर उसे संस्थाबद्ध करता है। विशेषकर मध्यवर्ग और निम्न -मध्यमवर्ग की एक बड़ी आबादी जिसका बेहद सुव्यवस्थित तरीक़े से लम्बे समय में संघ परिवार द्वारा फ़ासीवादीकरण हो चुका है, वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस फ़ासीवादी ताण्डव का पैरोकार बन चुकी है।

भारत की संवैधानिक व्यवस्था पहले भी सत्ताधारियों को दमन के तमाम उपकरण मुहैया कराती रही है। लेकिन दमन के संवैधानिक उपकरणों का फ़ासिस्टों ने सबसे सूक्ष्मतम, कुशलतम और व्यापकतम इस्तेमाल किया है। अपने तमाम कुकृत्यों को अंजाम देने के लिए फ़ासिस्टों को न तो संविधान बदलने की ज़रूरत है और न ही इसे ख़त्म करने की क्योंकि संविधान में ख़ुद ही इतने लूप होल्स हैं जो प्रत्यक्षतः फ़ासिस्टों के पाले में जाते हैं। आपातकाल, आईपीसी और सीआरपीसी की दमन की तमाम औपनिवेशिक धाराएँ, यूएपीए, एनएसए, मकोका, यूपीकोका, जैसे कुख्यात काले क़ानून से लेकर हिटलर की 'गेस्टापो' और 'एसएस' की तर्ज़ पर 'यूपीएसएसएफ' जैसी समान्तर सेना विकसित करने तथा बिना किसी वारण्ट और अदालती कार्रवाई के नागरिकों को गिरफ़्तार कर रिमाण्ड पर रखने से लेकर पूछताछ करने की छूट फ़ासिस्टों को संवैधानिक ढाँचे के भीतर ही मिल जाती है। इसलिए आज जो फ़ासिस्टों के ख़िलाफ़ संघर्ष को संविधान बचाने के संघर्ष के रूप में देख रहे हैं, वो पूँजीवादी संविधान को लेकर लोगों में भ्रम पैदा कर रहे हैं। फ़ासीवाद का सीधे कहर झेल रही अल्पसंख्यक आबादी क्रान्तिकारी राजनीति के अभाव में भले ही अस्मिता के आधार पर गोलबन्द होती है लेकिन सच्चाई यही है कि अस्मितावादी राजनीति के आधार पर फ़ासीवाद का मुक़ाबला असम्भव है, उल्टे यह फ़ासीवाद को मजबूत ही करती है।

दरअसल पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की स्वाभाविक प्रक्रिया की जगह ब्रिटिश औपनिवेशिक कोख से पैदा हुए बीमार, विकृत और विकलांग भारतीय पूँजीवादी लोकतन्त्र में तर्क और जनवाद की ज़मीन बेहद कमज़ोर रही है। भारतीय समाज में व्याप्त अवैज्ञानिकता, अतार्किकता और अन्धविश्वास फ़ासीवाद के फलने-फूलने के लिए उर्वर ज़मीन मुहैया कराता है। संघ परिवार अपने जन्मकाल से ही तमाम संस्थाओं और कार्यक्रमों के ज़रिये साम्प्रदायिक राजनीति के जो बीज बो रहा था, उसकी फसल पककर तैयार हो चुकी है। वर्तमान समय में पूरा देश संघ परिवार की फ़ासीवादी प्रयोगशाला में तब्दील हो चुका है।

तो क्या फ़ासीवाद अप्रतिरोध्य है? इसका जबाब है - नहीं! फ़ासीवाद दरअसल वित्तीय पूँजी के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से का प्रतिनिधित्व करने वाले, उभरते और उजड़ते टटपुंजिया वर्ग का तृणमूल स्तर पर खड़ा धुर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है। फ़ासीवाद पूँजीवाद के गर्भ से पैदा होने वाली बीमारी है। पूँजीवाद को मिटाये बगैर फ़ासीवाद को मिटाने का स्वप्न एक ख़याली पुलाव है जो भ्रम तो पैदा कर सकता है लेकिन जनता को इस विभीषिका से कभी मुक्ति नहीं दिला सकता। जर्मनी के महान नाटककार और फ़ासीवाद विरोधी योद्धा बर्तोल्त ब्रेख़्त ने लिखा था कि- **जो लोग पूँजीवाद का विरोध किये बिना फ़ासीवाद का विरोध करते हैं, जो उस बर्बरता पर दुखी होते हैं जो बर्बरता के कारण पैदा होती है, वे ऐसे लोगों के समान हैं जो बछड़े को जिबह किये बिना ही मांस खाना चाहते हैं। वे बछड़े को खाने के इच्छुक हैं लेकिन उन्हें ख़ून देखना नापसन्द है। वे आसानी से सन्तुष्ट हो जाते हैं अगर कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेता है। वे उन सम्पत्ति सम्बन्धों के ख़िलाफ़ नहीं हैं जो बर्बरता को जन्म देते हैं, वे केवल अपने आप में बर्बरता के ख़िलाफ़ हैं।**

(पेज 37 से जारी)

आक्रामक और बीमार क़िस्म के व्यक्तिवाद, अलगाव और विक्षिप्तता के शिकार लोग अमेरिकी समाज और कई पूँजीवादी समाजों में क्यों पैदा होते हैं? जनता के सशस्त्र होने के अधिकार का मौजूद होना अमेरिकी जनवादी क्रान्ति और उसके बाद के इतिहास के कारण पैदा हुई परिघटना थी जिसे पूँजीपति वर्ग ने बाद में तरह-तरह से नियन्त्रित किया। लेकिन आज भी उसे पूरी तरह से नियन्त्रित नहीं किया जा सका है। जनता को निशस्त्र रखना हर-हमेशा पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के लिए ज़रूरी होता है। इसलिए ऐसी घटनाओं पर हमेशा बुर्जुआ उदार शान्तिवादी बन्दूक़ नियन्त्रण की बात करने लगते हैं। लेकिन जिन पूँजीवादी समाजों में नागरिकों के पास यह अधिकार नहीं है उन समाजों में भी बर्बर अपराधों और हत्याकाण्डों को अंजाम देने वाले व्यक्तित्व निर्मित होते रहते हैं। इसके कारणों की तलाश मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीवादी सभ्यता व संस्कृति में की जानी चाहिए न कि लोगों के शस्त्र रखने के अधिकार में। पूँजीवादी समाज में मौजूद बीमार मस्तिष्क मौजूद होंगे तो उनके लिए ऐसी बर्बरताओं को अंजाम देने के लिए बन्दूक़ की आवश्यकता नहीं होती है। अमेरिका आज भी विश्व पूँजीवाद का केन्द्र और शीर्ष है, हालाँकि आर्थिक तौर पर वह एक लम्बे ह्रास से गुज़र रहा है। लेकिन पूँजीवाद के इस स्वर्ग में पूँजीवादी सभ्यता और संस्कृति अपनी ही रुग्णता की सड़ाँध में डूबकर दम तोड़ रही है।

(यह लेख 'मज़दूर बिगुल' अख़बार के जुलाई अंक में प्रकाशित हुआ था। छात्रों-युवाओं के लिए इसकी प्रासंगिकता देखते हुए हमने इसे साभार लिया है।)

विशेष सामग्री

टेक्सास एलिमेण्ट्री स्कूल 'मास शूटिंग' के बहाने कुछ बुनियादी सवाल
अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाकर सामूहिक हत्याएँ : अमेरिकी समाज की गम्भीर मनोरुग्णता का एक लक्षण

कात्यायनी

विगत 24 मई को सल्वाडोर रामोस नामक एक अठारह वर्षीय युवा अमेरिका के टेक्सास राज्य के युवाल्डे स्थित बच्चों के एक स्कूल में घुसकर अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाने लगा। नतीजतन उन्नीस बच्चे और दो शिक्षक मारे गये तथा अठारह अन्य घायल हुए। दिल दहला देने वाली इस घटना के एक घण्टे बाद तक रामोस वहीं मौजूद रहा, जब तक कि पुलिस की एक टुकड़ी ने वहाँ पहुँचकर उसे गोली नहीं मार दी। स्कूल में घुसने से पहले रामोस घर पर अपनी दादी को सिर में गोली मारकर गम्भीर रूप से घायल कर आया था।

ज़ाहिर है कि इस अकारण ख़ून-ख़राबे के लिए रामोस की असामान्य मानसिक स्थिति ही ज़िम्मेदार थी, लेकिन ग़ौरतलब बात यह है कि अमेरिका में 'मास शूटिंग' की ऐसी घटनाएँ अक्सर होती रहती हैं और गत कुछ दशकों से राजनीतिक एवं बौद्धिक दायरों में तथा समाजशास्त्रियों और मनश्चिकित्सकों के बीच गम्भीर चर्चा और वाद-विवाद का विषय बनी रही हैं। पहले यह स्पष्ट कर दें कि पारिभाषिक तौर पर 'मास शूटिंग' की श्रेणी में ऐसी घटनाएँ आती हैं जिनमें कोई व्यक्ति अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाकर चार या उससे अधिक लोगों की जान ले ले। 'गैंगवार', घरेलू हिंसा और आतंकवादी कार्रवाइयाँ इस श्रेणी में नहीं आतीं। 'मास शूटिंग' आज अमेरिकी समाज की एक गम्भीर समस्या बन चुकी है। ग़ौरतलब है कि अधिकांशत: ऐसी घटनाएँ विकसित पूँजीवादी देशों में ही घटती हैं और पूरी दुनिया में होने वाली 'मास शूटिंग्स' की घटनाओं में से 73 प्रतिशत अकेले अमेरिका में होती हैं।

'रिपब्लिक वर्ल्ड डॉट कॉम' के अनुसार सिर्फ़ 2022 में 28 जून तक अमेरिका में 'मास शूटिंग' की 292 घटनाएँ घट चुकी हैं। तस्वीर की भयावहता के अहसास के लिए कुछ और आँकड़े ध्यान देने लायक़ हैं। 1966 से 2012 के बीच पूरी दुनिया में 'मास शूटिंग' की जितनी घटनाएँ घटीं, उनमें से एक तिहाई अकेले अमेरिका में घटीं। 'गन वॉयलेंस आर्काइव्स' के अनुसार 2019 के अन्त तक 417, 2020 के अन्त तक 611 और 2021 के अन्त तक 699 'मास शूटिंग' की घटनाएँ अमेरिका में घटीं। 2021 के मध्य मई तक अमेरिका में प्रति सप्ताह औसतन दस 'मास शूटिंग्स' हुईं। 2022 के मध्य मई तक प्रति सप्ताह औसतन ग्यारह ऐसी घटनाएँ हुईं। युवाल्डे स्कूल 'मास शूटिंग' के पहले 2022 में अमेरिका में 'स्कूल शूटिंग' की 26 घटनाएँ घट चुकी थीं और 'एबीसी न्यूज़' के पियेर थॉमस के अनुसार, उस घटना के बाद 33 ऐसी और घटनाएँ घट चुकी हैं। 'एजुकेशन वीक' पत्रिका के अनुसार 2018 से लेकर अभी तक अमेरिका में सिर्फ़ 'स्कूल शूटिंग' की ही 119 घटनाएँ घट चुकी हैं।

युवाल्डे स्कूल की घटना 2012 में सैण्डी हुक एलिमेण्ट्री स्कूल, कलेक्टिकट की उस 'स्कूल मास शूटिंग' की घटना के बाद दूसरी सबसे भीषण घटना थी जिसमें 20 बच्चे और 6 वयस्क मारे गये थे। युवाल्डे की घटना बफ़ैलो सुपर मार्केट, न्यूयार्क की घटना के ठीक दस दिन बाद घटी जिसमें एक श्वेतवर्ण श्रेष्ठतावादी ने अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाकर दस बेगुनाह काले लोगों को मौत के घाट उतार दिया था।

अमेरिका में इस ज्वलन्त मसले पर जारी बहस में डेमोक्रेटिक पार्टी और उसके बाहर के बहुतेरे उदारवादी-सुधारवादी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों का कहना है कि रिपब्लिकन्स (विशेषकर ट्रम्प के समर्थकों) और अन्य धुर दक्षिणपन्थी राजनीतिक शक्तियों के प्रभाव में काले, एशियाई और लातिनी मूल के नागरिकों तथा आप्रवासियों (विशेषकर मज़दूरों), स्त्रियों और समलैंगिकों के विरुद्ध घृणा और हिंसा का जो व्यापक माहौल बनाया जा रहा है और इनकी आज़ादी और अधिकारसम्पन्नता को जिस तरह अमेरिकी हित, संस्कृति और भविष्य के लिए ख़तरे के रूप में प्रचारित किया जा रहा है, उससे पिछड़ी चेतना की श्वेत आबादी में निराशा और ग़ुस्सा बढ़ रहा है। इस मानसिकता के चलते ऐसी घटनाएँ घट रही हैं। कुछ समाजशास्त्री यह भी मानते हैं कि वियतनाम से लेकर अफ़ग़ानिस्तान और सीरिया तक अमेरिका के मानमर्दन ने अमेरिकी समाज में बहुप्रचारित अमेरिकी "श्रेष्ठता" के मिथक को चूर-चूर कर दिया है। उधर पचास से भी अधिक वर्षों से जारी दीर्घकालिक मन्दी ने आम अमेरिकी के सामने इस बात को साफ़ कर दिया है कि केनेडीकालीन वैभव के स्वर्णिम

दिन अब कभी भी वापस नहीं लौटने वाले। संकट की आँच अब खाता-पीता अमेरिकी मध्यम मध्य वर्ग तक अपने दैनन्दिन जीवन पर महसूस करने लगा है। नतीजतन पूरा अमेरिकी समाज ही आज गहन अवसाद, निरर्थकता बोध, पराजयबोध और अपराधबोध का शिकार है।

अमेरिकी बुर्जुआ समाज की इन्हीं सामूहिक मनोरुग्णताओं का विस्फोट विविध रूपों में होता रहता है, जिनमें से एक 'मास शूटिंग' की परिघटना है। अमेरिका के मनश्चिकित्सकों का एक हिस्सा तो यहाँ तक कहता है कि 'मास शूटिंग्स', आत्महत्या, पारिवारिक हिंसा और अवसाद के बढ़ते मामलों को 'मानसिक स्वास्थ्य महाआपदा' के रूप में देखा जाना चाहिए। लेकिन इस स्थिति की सामाजिक जड़ों को देखने की जगह वे मानसिक चिकित्सा के व्यापक सरकारी तंत्र के निर्माण की बात करते हैं। या फिर ऐसा वे शायद इसलिए करते हैं कि मूल व्याधि के सामाजिक ढाँचागत कारणों को दूर करने का रास्ता वे बता ही नहीं सकते। और यह शायद उनके वर्गहित में भी नहीं होगा।

यह कहना अंशत: सही है कि धुर-दक्षिणपन्थी शक्तियों और रिपब्लिक पार्टी की मज़दूर-विरोधी, स्त्री-विरोधी, नस्लवादी और तमाम क़िस्म की रूढ़िवादी नीतियों का किसी हद तक, निरर्थक हिंसा के माहौल और मानसिकता के निर्माण में एक हाथ है। लेकिन यह भी सच है कि डेमोक्रेटिक पार्टी का उदारवाद-सुधारवाद इतना पंगु और निष्प्रभावी है कि सामाजिक घुटन और निरुपायता के विविधरूपा सामाजिक हिंसात्मक विस्फोटों को रोकने के लिए 'सेफ़्टीवाल्व' की सीमित भूमिका भी नहीं निभा सकता। न केवल साम्राज्यवादी वर्चस्व और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के मामले में, बल्कि अधिकांश घरेलू नीतियों के मामले में भी डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन पार्टी में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। स्त्रियों की स्वतंत्रता, काले लोगों और आप्रवासियों के अधिकारों जैसे मामलों में डेमोक्रेटिक पार्टी कुछ प्रगतिशील स्टैण्ड लेती दीखती है, लेकिन वह भी रस्मी और ज़ुबानी जमाख़र्च अधिक होता है। जो समाजशास्त्री अमेरिकी समाज के चौतरफ़ा संकट और पराभव से 'मास शूटिंग्स', आत्महत्याओं, घरेलू हिंसा की बढ़ती घटनाओं को जोड़कर देखते हैं, वे किसी हद तक सच्चाई के निकट खड़े हैं। लेकिन इस पूरी स्थिति को व्यापक सामाजिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना समझा नहीं जा सकता।

अमेरिकी बुर्जुआ समाज, बीमार, सचमुच बेहद बीमार है। बुर्जुआ सभ्यता और भौतिक प्रगति का यह बहुप्रचारित, लकदक चमक-दमक वाला मॉडल अन्दर से सड़ चुका है। अमेरिकी बुर्जुआ सभ्यता मानवीय सारतत्व से रिक्त और खोखली हो चुकी है। अमेरिकी बुर्जुआ समाज समृद्धि के शिखर पर बैठा हुआ भविष्यहीनता के अवसाद और आतंक में डूबा हुआ है। अमेरिकी "श्रेष्ठता" की खोखली उल्लास व उन्माद-भरी चीख़ों के पीछे दुनियाभर के युद्धों, रक्तपातों, नरसंहारों का अपराधबोध सामूहिक मानस में पार्श्व-संगीत की तरह लगातार बज रहा है।

आज के वैभवशाली अमेरिका की बुनियाद कभी यूरोप की तिरस्कृत-लांछित, हाशिए पर धकेल दी गयी मेहनतकश आबादी ने डाली थी। यही वह मेहनतकश आबादी थी जो 1775-84 की अमेरिकी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में नवोदित बुर्जुआ वर्ग की सहयोगी मुख्य शक्ति थी। आगे चलकर अब्राहम लिंकन ने जब दास-प्रथा का उन्मूलन करके बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के आख़िरी छूटे हुए महत्वपूर्ण कार्यभार को पूरा किया तो यह मेहनतकश आबादी मज़बूती से उनके साथ खड़ी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से जब यूरोप में सर्वहारा वर्ग के संघर्षों की उत्ताल तरंगे उठ रही थीं तो अमेरिकी मज़दूर वर्ग भी उसके क़दम से क़दम मिलाकर चल रहा था। शिकागो के मज़दूरों का संघर्ष उसकी संघर्ष यात्रा का एक मील का पत्थर था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अमेरिकी बुर्जुआ वर्ग जनवादी क्रान्ति के आदर्शों को तिलांजलि देकर मज़दूर वर्ग और समूची मेहनतकश आबादी के खुले शत्रु के रूप में सामने आ चुका था। जनवादी क्रान्ति के बुनियादी कार्यभारों के पूर्ण होने और अमेरिकी पूँजीवाद के इजारेदारी की मंज़िल में प्रवेश के साथ मेहनतकश जनता का बुर्जुआ वर्ग से कुछ भी साझा नहीं रह गया था। सदी के अन्तिम दशकों तक अमेरिका एक साम्राज्यवादी देश बन चुका था और दुनिया के बाज़ार और कच्चे माल के स्रोतों पर क़ब्ज़े के लिए यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों से प्रतिस्पर्द्धा करने लगा था। दूसरे विश्वयुद्ध के पहले ही यह स्पष्ट हो चुका था कि साम्राज्यवादी दुनिया का अगला चौधरी अब अमेरिका ही होगा और विश्वयुद्ध के बाद ऐसा ही हुआ।

साम्राज्यवाद की अवस्था में प्रवेश के बाद अमेरिकी बुर्जुआ वर्ग ने भी यूरोपीय साम्राज्यवादियों की ही तरह दुनियाभर से निचोड़े गये अधिशेष से अपने देश के मज़दूरों के एक हिस्से को सुविधाओं की घूस देकर भ्रष्ट बनाया। इन कुलीन मज़दूरों में ज़्यादातर श्वेत मज़दूर थे जो आम अश्वेत और आप्रवासी मज़दूरों से घृणा करते थे और साथ ही ग़रीब श्वेत मेहनतकश आबादी से भी नफ़रत करते थे। क्रान्तियों के तूफ़ानों का केन्द्र अब पश्चिम से पूरब की ओर खिसक चुका था। अमेरिकी समाज की ऊर्जस्विता और सर्जनात्मकता अब मुख्यत: निश्शेष हो चुकी थी। जिस देश ने कभी साहित्य के क्षेत्र में वाल्ट व्हिटमैन से लेकर मार्क ट्वेन, अप्टन सिंक्लेयर, जैक लण्डन जैसे महान सर्जक दिये थे, वह बीसवीं शताब्दी का मध्य आते-आते बीमार व्यक्तिवाद, निरर्थकताबोध और ऐन्द्रिक-मानसिक रुग्णताओं के साहित्यिक आन्दोलनों का केन्द्र बन गया। बीसवीं शताब्दी में हेमिंग्वे और विलियम फ़ॉकनर जैसों के यथार्थवादी साहित्य में मानवतावादी और जनवादी मूल्यों की जो कौंधें थीं, वे भी धीरे-धीरे विलुप्त होती चली गयीं। कला के अन्य क्षेत्रों में भी कमोबेश यही स्थिति थी।

कला-साहित्य की यह स्थिति दरअसल पूरे अमेरिकी बुर्जुआ समाज की बढ़ती आत्मिक रिक्तता को ही प्रतिबिम्बित करती

है। बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्षों से अमेरिकी सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को ऊर्जस्विता, सर्जनात्मकता और भविष्य-स्वप्नों की जो संजीवनी शक्ति मिल रही थी, वह सोता ही क्रमश: सूखता चला गया। अमेरिकी समाज में मेहनतकश जनता के संघर्ष जैसे हाशिए के इलाक़ों में क्षीण धाराओं के रूप में मौजूद रह गये हैं, उसी तरह सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में भी स्वस्थ मानवीय मूल्यों और भविष्यस्वप्नों के बीज यहाँ-वहाँ बिखर-से गये हैं और मुश्किल से ही दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा समाज केवल एक बीमार, अवसादग्रस्त, आत्महन्ता और घोर मानवद्रोही समाज ही हो सकता है। इतिहास की स्वाभाविक गति से, वर्ग संघर्षों की उत्ताल तरंग जब वेगवाही तूफ़ान बनकर पूरब से पश्चिम की ओर पहुँचने लगेंगी, तब फिर निश्चय ही अमेरिकी समाज भी ऊर्जस्वी और व्याधिमुक्त होकर सर्जनात्मकता की राह पर आगे डग भरने लगेगा। निचोड़ यह कि अमेरिकी समाज की आत्महन्ता मनोव्याधि के कारण ऐतिहासिक हैं और वर्ग संघर्ष की ऐतिहासिक गतिकी में ही इसका उपचार निहित है।

आज से 112 वर्ष पहले, 1910 में, मक्सिम गोर्की ने एक लम्बा निबन्ध लिखा था – 'व्यक्तित्व का विघटन'। उस निबन्ध में उन्होंने प्रभावशाली ढंग से यह दर्शाया था कि वर्ग समाज और श्रम-विभाजन के जन्म के साथ ही मनुष्य के सामाजिक समष्टिगत व्यक्तित्व के विघटन की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह पूँजीवाद के पतनशील दौर तक पहुँचते-पहुँचते अपने चरम पर जा पहुँची है और बुर्जुआ समाज संस्कृति एवं आत्मिक मूल्यों के धरातल पर कुछ भी स्वस्थ और सकारात्मक दे पाने की क्षमता तेज़ी से खोता जा रहा है। गोर्की ने पतनशीलता के ज़्यादातर उदाहरण अमेरिकी समाज और संस्कृति से ही दिये हैं। गोर्की के उस लेख के 112 वर्षों बाद अमेरिकी समाज अगर अन्दर से इतना खोखला और बीमार नज़र आ रहा है तो इसमें भला आश्चर्य की क्या बात है!

मक्सिम गोर्की के उक्त लेख के लिखे जाने से भी लगभग आधी सदी पहले मार्क्स ने यह स्पष्ट कर दिया था कि पूँजीवाद मज़दूर वर्ग को उनके द्वारा उत्पादित या सृजित वस्तु से अलग कर देता है (बेगाना बना देता है) और उसे आने-पाई पर आधारित सम्बन्धों में बँधने के लिए बाध्य कर देता है। इस प्रक्रिया में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से कट जाता है, सामाजिकता से कट जाता है और मानवीय मूल्यों से भी बेगाना हो जाता है। पूँजीवादी समाज का ज़ोर "उत्पादकता" पर होता है, यानी इन्सान का मोल इस बात से तय होता है कि वह पूँजीपति के लिए कितना मुनाफ़ा पैदा करता है। इस तरह पूँजीवाद विभेद और अलगाव अपनी स्वतंत्र आन्तरिक गति से पैदा करता है। बुर्जुआ समाज में शोषण के साथ-साथ नस्लवाद, रंगभेदवाद, पुरुषवर्चस्ववाद आदि उत्पीड़न के जितने भी रूप होते हैं वे आम लोगों के बीच बँटवारे और अलगाव को और अधिक बढ़ाने का काम करते हैं। बुर्जुआ समाज की ऐतिहासिक पतनशीलता के दौर में हमें इसके चरम विकृत रूप और परिणाम देखने को मिलते हैं। यौन हिंसा, नस्लवादी हिंसा, अवसाद, आत्महत्या आदि के साथ ही 'मास शूटिंग' जैसी घटनाओं को भी इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा और समझा जाना चाहिए।

इस पूरी प्रवृत्ति की सांगोपांग समझदारी के लिए इसे एक और कोण से भी देखा जाना चाहिए। आज का अमेरिकी बुर्जुआ समाज अवचेतन के स्तर पर एक सामूहिक अपराध-बोध का किसी हद तक शिकार है। वह जानता है कि हिरोशिमा और नागासाकी में दो लाख लोगों का नरसंहार फ़ासिज़्म की पराजय के लिए नहीं (वह तो हो चुकी थी) बल्कि अमेरिकी वैश्विक प्रभुत्व के लिए किया गया था। कोरिया, वियतनाम, कम्पूचिया से लेकर अफ़ग़ानिस्तान, इराक़, लीबिया, सीरिया तक – युद्ध से लौटे सैनिकों के ज़रिए यह बात समाज में पहुँचती रही है कि भीषण विनाशकारी युद्ध वास्तव में अमेरिकी साम्राज्यवादी प्रभुत्व के लिए लड़े जाते रहे हैं, न कि अमेरिकी राष्ट्र पर आये किसी "ख़तरे" से निपटने के लिए। आज का औसत जागरूक अमेरिकी नागरिक भी जानता है कि लातिन अमेरिकी देशों से लेकर ईरान, फिलिप्पींस आदि देशों तक सभी बर्बर तानाशाह वास्तव में अमेरिका की ही कठपुतली थे। सामूहिक अवचेतन में जड़ जमाये अमेरिकी बुर्जुआ नागरिक के इस अपराध-बोध को दबाने के लिए शासक वर्ग ज़्यादा से ज़्यादा आक्रामक, अन्धराष्ट्रवादी, नस्लवादी और तमाम क़िस्म के धुर-प्रतिक्रियावादी नारे देता है। विशेषकर विकल्पहीनता के कारण मध्यवर्गीय आबादी का एक बड़ा हिस्सा शासक वर्ग द्वारा दी गयी 'मिथ्याचेतना' को अपना शरण्य बनाता है और 'अमेरिकी कॉमन सेंस' के रूप में उसे अपना लेता है। लेकिन अवचेतन का अपराधबोध फिर भी बना रहता है। यही वह मानसिकता है जो एक ओर परग्रहीय दुष्ट शक्तियों को शिकस्त देकर ब्रह्माण्ड विजय करने और दूसरी ओर मनुष्यता के विनाश की फन्तासियों में मनोरंजन ढूँढ़ती है और दूसरी ओर गहन अवसाद, निरर्थकता बोध, निरर्थक हिंसा, रुग्ण ऐन्द्रिक विलास और आत्महत्या की इच्छा के भँवरों के बीच डूबती-उतराती रहती है। ऐसी ही विशेष मानसिक स्थिति के झोंक में कोई आदमी अगर बन्दूक़ लेकर निकल पड़ता है और किसी सुपर मार्केट या स्कूल में पहुँचकर तड़ातड़ निर्दोष अपरिचितों पर या बच्चों पर या काले लोगों पर गोलियों की बौछार कर देता है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

इस प्रकार की घटनाओं के फ़ौरन बाद ही अमेरिकी उदार बुर्जुआ वर्ग बन्दूक़ नियन्त्रण (गन कण्ट्रोल) के बारे में हल्ला मचाने लगता है। यह पूरी समस्या का असुधारणीय रूप से लिबरल समाधान है, या दूसरे शब्दों में, समाधान है ही नहीं। वजह यह कि बन्दूक़ हत्याएँ नहीं करती बल्कि रुग्णमानस लोग ऐसे हत्याकाण्ड करते हैं। सवाल यह है कि ऐसे रुग्णमानस लोग किस प्रकार के समाज में बनते हैं और क्यों बनते हैं?

(पेज 34 पर जारी)

विश्व पटल

श्रीलंकाई संकट: आम आबादी पर टूटता पूँजीवादी नीतियों का कहर

अविनाश

वर्तमान समय में श्रीलंका की आम जनता भयानक आर्थिक संकट से त्रस्त होकर सड़कों पर उतर चुकी है। प्रदर्शनकारी सड़कों पर नेताशाही-नौकरशाही, सेना-पुलिस से दो-दो हाथ कर रहे हैं। प्रदर्शन में दर्ज़नों लोगों की मौत हो चुकी है, सैकड़ों लोग घायल हैं। गुस्सायी भीड़ प्रधानमन्त्री समेत कई मन्त्रियों के आवास को आग के हवाले कर चुकी है। जनाक्रोश के खौफ़ से एक मन्त्री ख़ुद को गोली मारकर आत्महत्या कर चुका है। प्रधानमन्त्री समेत पूरा मन्त्रीमण्डल इस्तीफ़ा दे चुका है। राष्ट्रपति के इस्तीफ़े की माँग कर रही जनता ने राष्ट्रपति भवन पर कब्ज़ा कर लिया था जिसे कुछ समय बाद ही सेना द्वारा खाली कराया जा सका। पूँजीवाद की आन्तरिक गतिकी आम मेहनतकश आबादी को केवल और केवल असुरक्षा, भविष्य की अनिश्चितता, भुखमरी और कुपोषण ही दे सकती है, इसका सबसे तात्कालिक उदाहारण अभी कुछ दिनों पहले तक मध्यम आय वर्ग में आने वाला देश श्रीलंका है।

मुनाफ़े की हवस और बाज़ार में अपने माल को ज़्यादा से ज़्यादा बेचकर बाज़ार के बड़े से बड़े हिस्से पर कब्ज़ा जमाने का पागलपन पूँजीपतियों के बीच गलाकाटू होड़ के रूप में सामने आता है, जो अपनी पारी में मुनाफ़े की दर में गिरावट के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। मुनाफ़े की दर में गिरावट पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का आम नियम है। मुनाफ़े की गिरती दर का यह संकट बाज़ार में सुस्ती, उत्पादक निवेश में कमी और मन्दी के संकट के रूप में परिलक्षित होता है। धनपशुओं के इस पाप की क़ीमत हर-हमेशा दुनिया भर की मेहनतकश आबादी तालाबन्दी, छँटनी, महँगाई, आय में गिरावट और छात्रों-युवाओं में बढ़ती बेरोज़गारी, महँगी शिक्षा, निराशा, अवसाद आदि के रूप में चुकाती है।

आज विश्व पूँजीवाद भयंकर आर्थिक संकट के दौर से गुज़र रहा है। दुनिया भर की कई छोटी-छोटी अर्थव्यवस्थाओं द्वारा इस आर्थिक संकट से निकलने के लिए अपनाये जा रहे नुस्खे (जैसे कि साम्राज्यवादी संस्थाओं से क़र्ज़ या नवउदारवादी नीतियों को धड़ल्ले से लागू कर देशी-विदेशी मुनाफ़ाखोरों के लिए श्रम की लूट व प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की खुली छूट देना इत्यादि) कुछ आभासी तात्कालिक राहत के बाद अपनी पारी में इस संकट को और भी ज़्यादा व्यापक और गहरा बना देते हैं। तमाम साम्राज्यवादी देशों द्वारा क्षेत्रीय युद्धों को भड़काया जा रहा है लेकिन अब यह भी नाकाफ़ी साबित हो रहा है। दुनिया भर की कई अर्थव्यवस्थाएँ कंगाली के कगार पर खड़ी हैं। ये वे देश हैं जहाँ का औद्योगिक आधार बेहद सीमित है और जो बुनियादी ज़रूरत के सामानों के लिए भी आयात पर निर्भर हैं। जिसकी वजह से विश्व बाज़ार में आने वाले हर झटके का व्यापक असर इन देशों में दिखायी पड़ता है। इसका भी सबसे तात्कालिक उदाहरण श्रीलंका हैं।

क्या हो रहा है श्रीलंका में?

65 हज़ार वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल और 2.2 करोड़ की जनसंख्या वाला यह छोटा-सा देश अपने इतिहास के सबसे भयानक आर्थिक और राजनीतिक संकट के दौर से गुज़र रहा है। श्रीलंका एक ऐसा देश है, जिसका औद्योगिक क्षेत्र बेहद सीमित है, खाने-पीने से लेकर दवा-इलाज़, ऊर्जा आदि बुनियादी चीज़ों के लिए भी आयात पर निर्भर है। पूँजीवादी व्यवस्था की आन्तरिक गतिकी से पैदा होने वाला असमान विकास अपनी पारी में देर-सवेर कम विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और सीमित औद्योगिक विकास वाले देशों में भुगतान संकट की समस्या करता ही है। भुगतान संकट की इस समस्या से निपटने के लिए श्रीलंका की पिछली सभी सरकारें अपने औद्योगिक ढाँचे को विकसित करने, कॉर्पोरेट से लेकर प्रत्यक्ष करों का विस्तार करने की जगह विदेशी और साम्राज्यवादी क़र्ज़ों पर निर्भर रही हैं और जनता का ध्यान भटकाने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिक/जातीय/भाषायी तुष्टिकरण का सहारा लेती रहीं हैं। पिछले दिनों तमिल विरोध और बौद्ध-सिंघवी तुष्टिकरण के रथ पर सवार होकर भारी बहुमत से सत्ता में आने वाली गोटाबाया राजपक्षे की निरंकुश सरकार इस मामले में अपने सभी पूर्ववर्तियों को काफ़ी पीछे छोड़ चुकी है। श्रीलंका पर सार्वजनिक क़र्ज़ 2012 में 68.71 फ़ीसदी के मुक़ाबले 2021 के अन्त तक जीडीपी का 119 फ़ीसदी पहुँच गया जिसमें से 68 फ़ीसदी से कुछ ज़्यादा विदेशी कर्ज़ है। इस बीच विदेशी क़र्ज़ों को चुकाने में श्रीलंका के विदेशी मुद्रा कोष का तेज़ी से क्षरण हुआ और अब देश ऐसी स्थिति में पहुँच चुका है जहाँ विदेशी मुद्राकोष लगभग ख़त्म हो चुका है। ऊपर से आने वाले जुलाई में एक अरब डॉलर आईएसबी (अन्तरराष्ट्रीय सॉवेरन बाण्ड) परिपक्व होने वाला है। श्रीलंका को

इस साल सात अरब डॉलर के विदेशी क़र्ज़ों का भुगतान करना है जबकि विदेशी मुद्रा भण्डार 15 करोड़ डॉलर से भी कम है। इस कोष से विदेशी क़र्ज़ों की किश्त व ब्याज़ चुकाना तो दूर की बात है, महीने भर के लिए आवश्यक बुनियादी सामानों का आयात भी नहीं हो सकता है। अगले साल से लेकर 2026 तक श्रीलंका को 25 अरब डॉलर के विदेशी क़र्ज़ का भुगतान करना है। श्रीलंका पर अभी कुल विदेशी क़र्ज़ 50 अरब डॉलर के क़रीब है। एक गम्भीर भुगतान शेष (बीओपी- बैलेंस ऑफ पेमेंट) संकट के बीच 12 अप्रैल को श्रीलंका के वित्त सचिव महिन्दा सिरिवर्देना ने यह कहते हुए कि देनदार अपने ब्याज़ को मूल में बदल सकते हैं या श्रीलंकाई रुपये में भुगतान प्राप्त कर सकते हैं, तत्काल प्रभाव से सभी सरकारी क़र्ज़ भुगतान निलम्बित कर दिया। दरअसल 12 अप्रैल को किश्त भुगतान की आख़िरी तिथि थी और श्रीलंकाई सरकार आईएमएफ़ (आईएमएफ़ जैसी साम्राज्यवादी वित्तीय सस्थाएं किसी भी देश को इस प्रकार का ऋण देने से पहले उस देश की अर्थव्यवस्था के दरवाज़ों को वित्तीय पूँजी के लिए खोलने और उस देश के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन समेत आम मेहनतकश आबादी की श्रमशक्ति को निचोड़ने की खुली छूट की गारण्टी चाहते हैं और इतना ही नहीं ये सस्थाएं सरकारों से जनकल्याणकारी मदों में होने वाले ख़र्चों को जैसे कि शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन में कम कर निजीकरण के लिए दबाव बनाती हैं) से बेल आउट की आस लगाये हुए थी लेकिन तय सीमा के भीतर बेल आउट न मिलने की वजह से श्रीलंका अरबों डॉलर के विदेशी ऋण को नहीं चुका पाया और अन्ततः उसने अपनी सभी सार्वजनिक किश्तों को निलम्बित करने का फ़ैसला किया। अब श्रीलंका ऐसी विकट स्थिति में फँसा हुआ है कि बिना नये कर्ज़ लिए श्रीलंका अपने पुराने क़र्ज़ों का तिमाही भुगतान भी नहीं कर सकता है और ना ही खाने-पीने की वस्तुओं, दवाइयों और अन्य ज़रूरी चीज़ों को विदेशों से निर्यात करने में ही समर्थ है। श्रीलंका की मुद्रा रुपये में भी गिरावट थमने का नाम नहीं ले रही है। इस लेख को लिखे जाने तक एक डॉलर की क़ीमत 362.44 श्रीलंकाई रुपये हो गयी है।

कोरोना महामारी और ईस्टर अटैक के कारण श्रीलंकाई विदेशी मुद्रा का बड़ा स्रोत पर्यटन उद्योग लगभग तबाह हो गया। विदेशी मुद्रा को बचाने के लिए 2020 में आयात पर रोक लगा दी गयी। आयात घटने से बुनियादी चीज़ों के दाम बढ़ते चले गये और अब हालात इतने बदतर हैं कि जहाँ 2018 के अन्त में महँगाई दर 5 फ़ीसदी से थोड़ी ही ज़्यादा थी अब 19 फ़ीसदी के क़रीब पहुँच चुकी है और खाद्य पदार्थों की महँगाई 30 प्रतिशत के क़रीब पहुँच चुकी है। महँगाई के स्तर का और देश में व्याप्त क़िल्लत का अनुमान केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि देश की राजधानी कोलम्बो में 13-18 घण्टे की बिजली कटौती हो रही है। घर, अस्पताल, स्कूल, दफ़्तर हर जगह अँधेरे का राज है। सरकार बिजली बचाने के लिए स्ट्रीट लाइट तक को पूरी तरह से बन्द कर चुकी है। देश में डीज़ल पूरी तरह से ख़त्म हो चुका है, गैस और पेट्रोल आर्मी के साये में बेचे जा रहे हैं। क़ाग़ज़ की कमी की वजह से छात्रों की परीक्षाएँ टाली जा चुकी हैं। देश के सभी समाचार पत्र अपने प्रतियों की संख्या आधे से भी कम कर चुके हैं। एक किलो पाउडर दूध 1600 रुपये, 400 मिली दूध 800 रुपये, गैस सिलेण्डर 5000 रुपये, चीनी 200 रुपये किलो, चावल 600 रुपये किलो तक में भी लोगों को मय्यसर नहीं हैं। आम जनता में खाने-पीने से लेकर दवा-इलाज़ तक के लिए त्राहिमाम मचा हुआ है। महँगाई में बेतहाशा वृद्धि आम मेहनतकश आबादी से लेकर मध्यवर्ग जो अभी कुछ दिनों पहले तक राजपक्षे सरकार के "कड़े फ़ैसलों" के पक्ष में तर्क गढ़ रहा था और तमिल विरोध तथा तमिलों के दमन को न्यायोचित बता रहा था, आज कंगाल हो चुका है। श्रीलंका में यह आर्थिक संकट अब राजनीतिक संकट में बदल चुका है। जनता सड़कों पर उतर चुकी है, देश में आपातकाल लागू कर दिया गया है। विरोध में उठने वाले स्वरों को कुचलने की तमाम नाक़ामयाब कोशिशें की जा चुकी हैं।

इस संकट की असली वजह क्या है?

आज श्रीलंका में जो कुछ हो रहा है यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि इसकी जड़ औपनिवेशिक कोख से पैदा हुए विकृत और विकलांग मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था में है, जिसे मौजूदा राजपक्षे सरकार की निरंकुश बहुसंख्यकवादी, आर्थिक आत्मघाती पागलपने से भरी नीतियों ने सतह पर ला पटका है। दरअसल 1948 से पहले श्रीलंका ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उपनिवेश था। औपनिवेशिक पूँजी के लिए उसके उपनिवेश कच्चे माल और सस्ते श्रम का स्रोत तथा उसके कारख़ानों में उत्पादित माल के लिए बाज़ार होते थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक पूँजी ने अपने शासन काल के दौरान श्रीलंका के प्राकृतिक संसाधनों और मेहनतकश आबादी के श्रम का बेरोकटोक दोहन किया और फैक्ट्रियों में तैयार सस्ते मालों से घरेलू बाज़ार को पाटकर स्वतन्त्र पूँजीवादी विकास के मार्ग को रोक दिया। इस प्रकार भारत की तरह श्रीलंका में भी पूँजीवादी विकास अपनी स्वतन्त्र ज़मीन से आम मेहनतकश आबादी को जनवादी चेतना, विज्ञान और तर्कणा से लैस करते हुए तथा जनान्दोलनों के झंझावात से सामन्ती मूल्य-मान्यताओं और रुढ़ियों पर निर्णायक चोट करते हुए न होकर ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजी के साये तले सामन्ती मूल्य-मान्यताओं और रुढ़ियों में लिथड़ा हुआ विकृत-बीमार विशिष्ट क्षेत्रों तक सीमित एक पंगु, कमज़ोर और देशी-विदेशी क़र्ज़ों पर निर्भर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के रूप में हुआ। कच्चे मालों की आपूर्ति के मद्देनज़र अंग्रेज़ों ने यहाँ के कृषि उद्योग के साथ-साथ मुख्यतः रबर, चाय और वस्त्र उद्योगों का विकास किया। अन्य बुनियादी उत्पादों के लिए औपनिवेशिक काल से ही श्रीलंका मुख्यतः आयात पर निर्भर रहा है। भारत का पूँजीपति वर्ग इस मामले में ज़्यादा चालाक सिद्ध हुआ। उसने आयात प्रतिस्थापन की नीतियों द्वारा विशेष तौर पर उपभोक्ता सामग्रियों

के आयात को बेहद सीमित रखा और बाद में उत्पादन के साधनों के उत्पादन में भी आंशिक तौर पर आत्मनिर्भर होने लगा। इसके अलावा, 'समाजवाद' के नाम पर इसने देश की जनता की बचत को एकत्र कर देशी पूँजीपति वर्ग के प्राथमिक पूँजी संचय की समस्या को हल किया। इसके कारण, बीच-बीच में भुगतान संकट में घिरने के बावजूद वह इससे निकलने में सफल रहा। श्रीलंका में भी बीच-बीच में कुछ सरकारों ने ऐसी नीतियों पर अमल किया। लेकिन भारत के मुकाबले श्रीलंका की अर्थव्यवस्था एक औद्योगिक आधार को विकसित करने के मामले में काफ़ी पीछे रही। किसी भी देश में भुगतान संकट और उसकी मुद्रा का पतन आयात और निर्यात में भारी असन्तुलन के कारण ही पैदा होता है। लेकिन यह असन्तुलन अपने आप में उस देश में पूँजीवादी व्यवस्था के अपेक्षाकृत पिछड़े होने और मुनाफ़े की दर के गिरने के संकट का ही द्योतक होता है। वजह यह है कि मुनाफ़े का संकट निवेश की दर को भी घटाता है। ऐसे कई देश अक्सर सेवा क्षेत्र और टूरिज़्म तथा कृषि उत्पादों पर अधिक निर्भर करते हैं। औद्योगिक आधार के सीमित होने के कारण संकट के दौर में ऐसे देशों की अर्थव्यवस्थाओं का भुगतान संकट और भारी व्यापार घाटे के भँवर में फँसना कोई अचरज की बात नहीं है। ऊपर से श्रीलंका के विशिष्ट मामले में राजपक्षे सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था का भयंकर और मूर्खतापूर्ण कुप्रबन्धन इस संकट को अभूतपूर्व रूप से गहरा करने में विशेष भूमिका में रहा।

4 फ़रवरी 1948 को ब्रिटिश उपनिवेशवादियों से आज़ादी मिलने के बाद श्रीलंका की सत्ता देशी पूँजीपति वर्ग के हाथ में आयी। नवस्वाधीन श्रीलंका का पूँजीपति वर्ग आर्थिक दृष्टि से इतना अपंग और अपरिपक्व था कि सख़्त संरक्षणवाद, आयात-प्रतिस्थापन और राज्य नीत विकास के पूँजीवादी मॉडल के बिना वह आर्थिक तौर पर आत्मनिर्भर बन पाने में अक्षम था। श्रीलंका में पूँजीवादी विकास के इस मॉडल को सुसंगत तौर पर और निरन्तरता के साथ नहीं अपनाया गया, जिसके कारण श्रीलंका की अर्थव्यवस्था कभी कोई व्यापक और मज़बूत औद्योगिक आधार विकसित नहीं कर सकी। यही वजह है कि आज़ादी के लगभग साढ़े सात दशक के बीत जाने के बाद श्रीलंका की अर्थव्यवस्था में बुनियादी बदलाव केवल इतना आया है कि रबर, कृषि (चावल), चाय, नारियल के निर्यात के अलावा पर्यटन का विकास हुआ है। श्रीलंका आज भी दवा, दूध, ऊर्जा समेत अन्य बुनियादी सामानों के लिए आयात पर निर्भर है। आज़ादी के बाद लम्बे समय तक श्रीलंका के विदेशी मुद्रा भण्डार का 90 फ़ीसदी हिस्सा केवल रबर, चाय, नारियल के निर्यात पर निर्भर था। ऊपर से तुर्रा यह कि इस निर्यात से होने वाली आय का केवल 10 फ़ीसदी हिस्सा ही उत्पादन और आधारभूत संरचनाओं के विकास में लगाया जाता था। बाकी का 90 फ़ीसदी हिस्सा पूँजीवादी चुनावी राजनीति, चुनावी वायदों को पूरा करने, घपले-घोटाले, और पूँजीवादी मशीनरी, नेताशाही-नौकरशाही की भेंट चढ़ जाता था। इस प्रकार आय का बड़ा हिस्सा अनुत्पादक क्षेत्रों में लगने से सरकारी ख़र्च हमेशा आय से ज़्यादा रहा है और बजट घाटे में रहा। अब बजट घाटे को पाटने के लिए और 1973 में तेलझटके की वजह से बिगड़े हुए भुगतान सन्तुलन के संकट से निपटने के लिए तत्कालीन प्रधानमन्त्री जेआर जयवर्धने ने क़र्ज़ के लिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ़) का दरवाज़ा खटखटाया। आईएमएफ़ ने विदेशी पूँजी के लिए श्रीलंकाई बाज़ार को खोलने की शर्त पर क़र्ज़ मुहैया कराया। जिसके बाद 1977 में श्रीलंका दक्षिणी एशिया में नवउदारवादी प्रयोग का पहला केन्द्र बना। नवउदारवादी नीतियों की वजह से जनता की ज़िन्दगी की बदहाली से ध्यान भटकाने के लिए सिंहली अन्धराष्ट्रवाद और तमिल अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ नफ़रत को हवा दी गयी जिसका नतीजा 1983 में राज्य द्वारा प्रायोजित तमिलों के भीषण नरसंहार के रूप में सामने आया। उसके बाद 2009 तक श्रीलंका गृहयुद्ध की आग में झुलसता रहा। इस दौरान श्रीलंका की निरंकुश बहुसंख्यकवादी सरकार द्वारा विकास में लगने वाला सारा पैसा युद्ध के ख़र्चों में लगा दिया गया। युद्ध में श्रीलंका की सरकार ने पैसा पानी की तरह बहाया। इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि 1982 तक जिस सरकार का रक्षा बजट 4.4 फ़ीसदी था वो 1996 आते-आते 21.6 फ़ीसदी हो गया। उत्पादन के क्षेत्र में पूँजी की कमी होने लगी फलतः उत्पादकता में भारी गिरावट आयी और राजकोषीय घाटा तेज़ी से बढ़ने लगा। सीमित औद्योगिक विकास और गृहयुद्ध में झुलस रही श्रीलंकाई अर्थव्यवस्था की निर्भरता दिन-प्रतिदिन विदेशी क़र्ज़ों पर बढ़ती चली गयी। पिछली आधी सदी के दौरान श्रीलंका द्वारा लिये गये सार्वजनिक ऋणों को जीडीपी के अनुपात में देखने पर श्रीलंकाई अर्थव्यवस्था में ऋणों की भूमिका का एक स्पष्ट पैटर्न उभरता है। 2009 में राजपक्षे सरकार द्वारा एक महीने के भीतर 43 हज़ार तमिल नागरिकों की नृशंस हत्या के बाद ही तमिल अल्पसंख्यकों की माँगों का दमन किया जा सका। गृहयुद्ध के इस भीषण हिंसक अन्त के बाद महिन्दा राजपक्षे की सरकार ने एक बार फिर आईएमएफ़ से 2.6 बिलियन डॉलर का क़र्ज़ लिया। सट्टेबाज़ वैश्विक वित्तीय पूँजी की वजह से 2009 से 2012 के बीच श्रीलंका की अर्थव्यवस्था में उछाल आया परन्तु 2012 में विश्व बाज़ार में प्राथमिक मालों की क़ीमतों में गिरावट से श्रीलंका की अर्थव्यवस्था डगमगाने लगी और उसके बाद से श्रीलंका के सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि में गिरावट लगातार जारी है। वास्तव में प्राथमिक मालों (कृषि मालों) तथा पर्यटन उद्योग पर श्रीलंकाई अर्थव्यवस्था की निर्भरता इस देश में पूँजीपति वर्ग द्वारा अपनाये गये विकास के रास्ते, मुनाफ़े की औसत दर में गिरावट और संरचनात्मक संकट का ही परिणाम है। ऐसा नहीं था कि साम्राज्यवाद ने बल प्रयोग से श्रीलंका की अर्थव्यवस्था को प्राथमिक माल उत्पादक बनाये रखा, फिर उसके मालों की क़ीमतों को कम किया, उसे भुगतान संकट में फँसाया

और फिर ढाँचागत समायोजन में उलझा दिया। यह पूरी सोच प्रभात पटनायक जैसे सुधारवादी कींसीय अर्थशास्त्रियों की है। वास्तव में, श्रीलंका का पूँजीवादी शासक वर्ग पूँजीवादी विकास के जिस रास्ते पर आगे बढ़ा, उसके नैसर्गिक परिणाम के तौर पर ये समस्याएँ आनी ही थीं और ज़ाहिरा तौर पर साम्राज्यवाद द्वारा उसका लाभ भी उठाया ही जाना था। 2016 में श्रीलंका ने 16वीं बार आईएमएफ़ से क़र्ज़ लिया।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि विश्व पूँजीवादी आर्थिक तन्त्र से नाभिनालबद्ध श्रीलंका की अर्थव्यवस्था के बुरे दिन वैश्विक कोरोना महामारी के अस्तित्व में आने से पहले ही शुरू हो गये थे। कोविड महामारी के दौरान पूरी दुनिया में आंशिक या पूर्ण लॉकडाउन लगा रहा। इस दौरान दुनियाभर की ज़्यादातर आर्थिक इकाइयाँ लगभग ठप्प रही। जिसका बेहद बुरा असर निर्यात पर पड़ा। पहले से ही बीमार श्रीलंका की अर्थव्यवस्था के लिये यह एक बड़ा झटका था। श्रीलंका में विदेशी मुद्रा का बहुत बड़ा स्रोत वहाँ का पर्यटन उद्योग और विदेशों में काम करने वाले श्रीलंकाई नागरिकों द्वारा भेजा जाने वाला रेमिटेंस है। श्रीलंका को सालाना आय पर्यटन से क़रीब 6 अरब डॉलर तथा रेमिटेंस (विदेशी धनप्रेषण) से 7 अरब डॉलर की होती थी। लेकिन अप्रैल 2019 में कोलम्बो में चर्चों पर ईस्टर सण्डे को हुए भीषण आतंकवादी बम विस्फोटों और फिर कोरोना महामारी की वजह से लगे लॉकडाउन ने श्रीलंका के पर्यटन उद्योग को चकनाचूर कर दिया। कोरोना महामारी की वजह से आर्थिक इकाइयों के बन्द हो जाने से विदेशों में काम करने वाली श्रीलंकाई आबादी का बड़ा हिस्सा बेरोज़गार हो गया। जिसकी वजह से रेमिटेंस के रूप में होने वाली आय भी ठप्प पड़ गयी।

आर्थिक संकट की आहटों के बीच 2019 के राष्ट्रपति चुनाव में गोटाबाया राजपक्षे बौद्ध-सिंहली बहुसंख्यावाद के रथ पर सवार होकर तमिल अल्पसंख्यकों को सबक सिखाने और तमाम लोक-लुभावन वायदों के साथ भारी बहुमत से सत्तासीन हुआ। सत्ता में आते ही गोटाबाया ने आर्थिक तौर पर आत्मघाती "कड़े फ़ैसले" लेना शुरू कर दिया। राजपक्षे सरकार के इन फ़ैसलों की वजह से यह आर्थिक संकट अब आपदा में तब्दील हो चुका है।

गोटाबाया राजपक्षे सरकार ने 2019 में सत्ता पर आसीन होने के तुरन्त बाद प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों की दरों में भारी कटौती का ऐलान किया, जिसको तमिल विरोध में लिप्त श्रीलंका के मध्यवर्ग ने जमकर सराहा। सरकार ने एक झटके में वैट (वैल्यू एडेड टैक्स) को 15 फ़ीसदी से घटाकर 8 फ़ीसदी कर दिया और इसी प्रकार सात अन्य करों को ख़त्म कर दिया गया। इन करों में कटौती की वजह से लगभग 10 लाख वेतनभोगी कर के दायरे से बाहर हो गए। जिसकी वजह से सरकारी ख़ज़ाना ख़ाली होने लगा और राजकोषीय घाटे में भारी बढ़ोत्तरी हुई। करों में कटौती की वजह से श्रीलंका का विदेशी मुद्रा भण्डार जून 2019 में 88,640 लाख अमेरिकी डॉलर से गिरकर जनवरी 2022 में 23,610 लाख अमेरिकी डॉलर रह गया। इसका सीधा नतीजा यह हुआ कि कोरोना महामारी के दौरान सरकार आम लोगों की बुनियादी ज़रूरतें तक नहीं पूरी कर सकी। अभी इससे श्रीलंकाई अर्थव्यवस्था उभरी भी नहीं थी कि गोटाबाया सरकार ने दूसरा "कड़ा फ़ैसला" ले लिया जिसे फ़ासीवादी मोदी ने भी जम के सराहा था। इस बार जो सनक भरा फ़ैसला लिया गया वह था बिना किसी तैयारी के पूरे देश में कीटनाशकों और रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग पर रोक। गोटाबाया सरकार द्वारा फ़रमान सुनाया गया कि रातों-रात कृषि पर निर्भर श्रीलंका की बड़ी आबादी पारम्परिक खेती छोड़ जैविक खेती में लग जाये। सरकार ने रासायनिक खादों और कीटनाशकों के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। लेकिन बिना किसी तैयारी के थोप दिये गये इस फ़ैसले का नतीजा श्रीलंका के कृषि उत्पादन में 40 फ़ीसदी तक की गिरावट के रूप में सामने आया, जिसकी वजह से छोटे-मँझोले किसान और खेतिहर मज़दूर त्राहि-त्राहि करने लगे। जो श्रीलंका चावल के लिए आत्मनिर्भर था, वह अब लाखों टन चावल आयात करने के लिए मजबूर था। रबर और चाय की खेती बर्बाद हो गयी, जिसकी वजह से निर्यात में भारी कमी आयी। जिसका विदेशी मुद्रा भण्डार पर बेहद प्रतिकूल असर पड़ा। ग़ौरतलब है कि श्रीलंका में खाद्य संकट पैदा करने वाला यह सनक-भरा प्रतिबन्ध तब लगाया गया था जब कोरोना महामारी अपने चरम पर थी। जिसकी वजह से बहुत-से लोग शहरों से गाँवों की ओर पलायन कर रहे थे और छोटी-मोटी खेतीबाड़ी करके अपना पेट पालने की जद्दोजहद कर रहे थे। रही-सही कसर रूस-यूक्रेन युद्ध ने पूरा कर दिया है। रूस-यूक्रेन युद्ध की वजह से पेट्रोलियम समेत अन्य ज़रुरी उत्पादों की क़ीमतों में आयी उछाल से श्रीलंका में महँगाई अपने चरम पर पहुँच गयी है। यूक्रेन की ज़मीन पर लड़ा जा रहा साम्राज्यवादी दंगल श्रीलंका की बर्बादी के तात्कालिक कारणों में से एक है।

इस प्रकार श्रीलंका का मौजूदा आर्थिक संकट पूँजीवाद की कोख से पैदा हुआ है जिसको गोटाबाया राजपक्षे सरकार की आत्मघाती आर्थिक नीतियों, कोरोना महामारी और रूस यूक्रेन युद्ध ने विस्फोटक स्थिति में पहुँचा दिया है। अभी श्रीलंका में किसी सुसंगठित क्रान्तिकारी विकल्प ना होने की वजह से इस संकट का कुछ तात्कालिक और अल्पकालिक हल इसी व्यवस्था के भीतर से पैदा होगा। लेकिन यह हल आगे चलकर इस संकट को व्यापक और गहरा बनायेगा। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर संकटों का हर निदान नये संकटों के लिए रास्ता खोल देता है। पूँजीवादी व्यवस्था की आन्तरिक गति से पैदा होने वाले इन संकटों का मुकम्मिल समाधान बराबरी और न्याय पर टिकी समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है।

●

विश्व पटल

रूस-यूक्रेन युद्ध : बदलते साम्राज्यवादी समीकरण

अमित

और अब वे युद्ध को जा रहे हैं
और उन सबको पूरी तरह ज़रूरत है कारतूसों की
और ज़ाहिरा तौर पर तमाम अच्छे लोग हैं
जो ख़ुशी-ख़ुशी उन्हें कारतूस ला देंगे
'गोला-बारूद नहीं तो युद्ध नहीं
यह हम पर छोड़ दो मेरे बेटे!
तुम जाओ मोर्चे पर और लड़ो,
हम बनाएँगे तुम्हारे लिए गोला-बारूद और बन्दूक़ें।'
और अम्बार लगा दिया उन्होंने गोला-बारूद का
लेकिन किसी युद्ध का अता-पता न था
और ज़ाहिरा तौर पर तमाम अच्छे लोग थे
जिन्होंने जादू से एक युद्ध पैदा कर दिया
'प्यारे बच्चे, तुम जाओ मोर्चे पर
क्योंकि तुम्हारी जन्मभूमि को ख़तरा है,
मार्च करो, अपनी माताओं और बहनों के लिए,
अपने राजा के लिए और अपने ख़ुदा के लिए।'
– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

यूक्रेन पर साम्राज्यवादी रूस द्वारा थोपे गए युद्ध से पाठक अच्छी तरह परिचित होंगे। 24 फ़रवरी से साम्राज्यवादी रूस द्वारा यूक्रेन पर थोपे गये इस युद्ध के क़रीब 5 महीने होने वाले हैं। इस युद्ध में यूक्रेन की आम जनता भयंकर तबाही-बर्बादी झेल रही है। निर्दोष बच्चों, स्त्रियों समेत बहुत सारे नागरिकों की लाशें बम विस्फोटों से ध्वस्त हुई इमारतों के मलबे में दबी पड़ी हैं। हर युद्ध की तरह इस युद्ध के ख़त्म होने पर धूल और धुएँ का ग़ुबार जब नीचे बैठेगा तो खण्डहर में तब्दील हो चुके शहरों में हर तरफ़ बड़ी संख्या में अपंग हुए बच्चे, जवान और बूढ़े नज़र आयेंगे। इस युद्ध से यूक्रेन के अब तक लगभग 90 लाख लोग विस्थापित हो चुके हैं और युद्ध से बचने के लिए यूक्रेन से बाहर दूसरे देशों में शरण लिये हुए हैं। इन शरणार्थियों के साथ भी बहुत अमानवीय बर्ताव की ख़बरें आ रही हैं। यूक्रेन के अधिकांश बड़े शहर रूस के कब्ज़े में हैं, और अभी भी तमाम शहरों में हवाई हमले, बमबारी लगातार ज़ारी है।

इस युद्ध की क़ीमत यूक्रेन की आम आबादी के अलावा रूस के भी सैनिक अपनी जान गँवाने के रूप में चुका रहे हैं। दुनिया भर के अन्य देशों के बहुत से नागरिक भी इस युद्ध के शुरु होते ही यूक्रेन में फँस गये जिसमें एक बड़ी संख्या भारत से यूक्रेन जाने वाले मेडिकल छात्रों की भी थी। इस युद्ध के कारण तेल की क़ीमतों में जो वृद्धि हुई, उससे बढ़े आर्थिक बोझ को दुनिया के शासक वर्ग अपने देश की अवाम पर थोप रहे हैं। दूरगामी तौर पर इस युद्ध की क़ीमत दुनिया के अन्य देशों को भी किसी न किसी रूप में चुकानी पड़ेगी।

तात्कालिक तौर पर भले ही रूस ने यह हमला दोनोत्क्स और लुंगास्क के लोगों की रक्षा के नाम पर किया हो, लेकिन विश्व राजनीति की ज़रा भी समझ रखने वाला जानता है कि यह युद्ध तेज़ी से उभर रहे रूसी-चीनी साम्राज्यवादी गुट और अमेरिका के नेतृत्व में नाटो खेमा की आपसी कुत्ताघसीटी का परिणाम है।

पिछले लम्बे समय से यूक्रेन इन दोनों साम्राज्यवादी धड़ों की नूराकश्ती का अखाड़ा बना हुआ था। सोवियत संघ के पतन के बाद से ही अमेरिका ने रूस की पूर्वी सीमा तक के देशों में नाटो के प्रभाव का विस्तार करने का प्रयास किया है। पोलैण्ड, लिथुआनिया जैसे देशों में अमेरिकी सैनिक तैनात हैं। यूक्रेन को पिछले लम्बे समय से अमेरिका सामरिक एवं आर्थिक मदद पहुँचाता रहा है। 2004 की 'नारंगी क्रान्ति' के बाद भी अमेरिका ने यूक्रेन को 13.8 मिलियन डॉलर का क़र्ज़ दिया था और सरकार विरोधी प्रदर्शनों में भी अमेरिका और पश्चिमी देशों ने अहम भूमिका निभायी थी। यूक्रेन में 2013 और 2014 के प्रदर्शनों के बाद भी अमेरिकी दख़ल का विस्तार हुआ। क्रीमिया संकट के दौरान भी अमेरिका ने हथियारों, प्रशिक्षण और जासूसी सहयोग के माध्यम से लगभग 2.7 बिलियन डॉलर की सहायता प्रदान की थी। 2014 के बाद से अमेरिका यूक्रेन को हर वर्ष औसतन 350 मिलियन डॉलर की सहायता प्रदान करता आया है। अमेरिका और पश्चिमी देशों के प्रभाव का ही परिणाम था कि युद्ध के दौरान भी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने यूक्रेन को मदद देने का फ़ैसला किया। दूसरी ओर, रूस ने भी यूक्रेन के अन्दर रूसी भाषा-भाषियों व अन्य अलगावपन्थियों को विभिन्न माध्यमों से मदद मुहैया कराया, साथ ही इन समूहों को सामरिक प्रशिक्षण तथा प्रत्यक्ष कार्रवाईयों में सहायता प्रदान करता रहा है। इसके अलावा यूक्रेन में दक्षिणपन्थी और अर्द्धफ़ासीवादी ताक़तों का उभार पिछले एक दशक में यूक्रेन के रूसी और अन्य भाषा-भाषी समूहों और जनजातियों पर कहर बरपा कर रहा है। अमेरिका और पश्चिमी देशों द्वारा समर्थित इस दक्षिणपन्थी और अर्द्धफ़ासीवादी उभार को रूस द्वारा पहले भी कई मौक़ों पर मुद्दा बनाकर हस्तक्षेप करने की कोशिश की गयी है। इस बार भी यही हुआ है। लेकिन किसी

भी देश के उत्पीड़क-शोषक शासक वर्ग से उस देश की जनता को मुक्त कराने का कार्यभार स्वयं उस देश की जनता का होता है, न कि किसी विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति का। दूसरे, पुतिन जो स्वयं ही अपने देश में तमाम जनवादी अधिकारों का दमन करता रहा है और गला घोंटता रहा है, वह अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं के मद्देनज़र अगर किसी देश पर हमला करता है तो इसे कहीं से भी वैध नहीं ठहराया जा सकता है।

वस्तुतः आर्थिक संकट के वर्तमान दौर में साम्राज्यवादी देशों के पुराने समीकरण में महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं। यह महत्वपूर्ण बदलाव अमेरिकी साम्राज्यवाद की चौधराहट के क्षीण होते जाने और चीन-रूस धुरी के उभार के रूप में दिख रहे हैं। एक तरफ़ अमेरिका वैश्विक पैमाने पर अपनी ख़त्म होती चौधराहट को बचाने की पूरी कोशिश में लगा हुआ है, तो वहीं दूसरी तरफ़ युद्ध के दौरान रूस के पीछे चीन एक बड़ी आर्थिक ताकत के रूप में लगातार मौजूद रहा है।

रूस-यूक्रेन युद्ध आज के दौर के बदलते साम्राज्यवादी समीकरण को रेखांकित करने वाली बड़ी घटना है। ग़ौरतलब है कि युद्ध की शुरुआत के साथ ही रूस पर संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, यूरोपीय संघ आदि द्वारा कई तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। ब्लूमबर्ग की रिपोर्ट के अनुसार मार्च 2022 तक ही रूस पर लगभग 5,000 तरह के प्रतिबन्ध लगाये जा चुके थे। लेकिन इस अवधि के दौरान ही रूस ने विभिन्न देशों के साथ न केवल कई तरह के वित्तीय-सामरिक समझौते किये हैं, बल्कि चीन की प्रतिसन्तुलनकारी भूमिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ में भी रूस को अलग-थलग नहीं पड़ने दिया है। दूसरे, इसके साथ ही रूस द्वारा यूक्रेन पर हमला किये जाने के पीछे रूस के आन्तरिक संकट को भी नहीं भूलना चाहिए। लेनिन ने लिखा था कि "... हम युद्धों तथा देश के आन्तरिक वर्ग-संघर्ष का अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं; हम समझते है कि जब तक वर्गों का अन्त नहीं कर दिया जाता और जब तक समाजवाद की सृष्टि नहीं होती, तब तक युद्ध का उन्मूलन नहीं किया जा सकता।" पिछले लम्बे समय से रूस की जनता में असन्तोष बढ़ रहा है तथा पुतिन विरोधी प्रदर्शनों का सिलसिला चल रहा है। पिछले साल ही रूस में पुतिन द्वारा अपने राजनीतिक आलोचक नवेल्नी को ग़िरफ़्तार करने के बाद कई शहरों में विरोध प्रदर्शन हुए थे जिसके बाद हज़ारों लोगों को गिरफ़्तार किया गया था। यही वजह है कि रूसी शासक वर्ग ने अन्धराष्ट्रवादी उन्माद और युद्ध का विरोध करने पर युद्ध के शुरु होने के पहले सप्ताह में ही हज़ारों नागरिकों को जेल में डाल दिया।

यूक्रेन पर रूस द्वारा थोपे गये इस युद्ध के सन्दर्भ में भारत की फ़ासीवादी मोदी सरकार की भूमिका बहुत शर्मनाक रही। यूक्रेन में फँसे भारतीय छात्रों के प्रति भाजपा सरकार की असंवेदनशीलता की स्थिति यह थी कि जब वहाँ पर छात्र जगह-जगह पनाह ढूँढ रहे थे, सरकार से वहाँ से जल्द-से-जल्द निकालने की गुहार कर रहे थे, उस समय भाजपा उत्तर प्रदेश के चुनावी नतीज़ों का जश्न मना रही थी। गोलीबारी में एक छात्र की मृत्यु भी हो गयी थी लेकिन गोदी मीडिया मोदी की विदेश नीति के कसीदे पढ़ने में लगी रही। जबकि यूक्रेन पर रूस के हमले का अन्दाज़ा काफ़ी पहले से लगाया जाने लगा था। एक तरफ़ रूस की सेनाएँ यूक्रेन की सीमा के आसपास युद्धाभ्यास कर रही थीं, तो वहीं दूसरी ओर नाटो की सेनाएँ भी यूक्रेन के सीमावर्ती देशों में और यूक्रेन के अन्दर भी मौजूद थीं। ज़ाहिर है कि फ़ासीवादी भाजपा सरकार की इस आपराधिक लापरवाही की क़ीमत वहाँ पढ़ने के लिए गये छात्रों को चुकानी पड़ी।

दूसरी ओर मोदी सरकार ने संयुक्त राष्ट्र में रूस के विरुद्ध मतदान में भागीदारी न करके अपने पक्ष को स्पष्ट कर दिया। यह भारतीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र को भी रेखांकित करने वाली एक महत्वपूर्ण घटना है। इतना ही नहीं, युद्ध की इस अवधि के दौरान भारत के रूस से तेल के आयात में रिकॉर्ड बढ़ोत्तरी हुई है। युद्ध से पहले जहाँ भारत अपने कुल आयातित कच्चे तेल का मात्र 0.2 प्रतिशत रूस से ख़रीदता था, वहीं अब यह बढ़कर 10 प्रतिशत हो गया है।

युद्ध की शुरुआत के साथ ही रूस और यूक्रेन का पक्ष लेने के सवाल को लेकर जगह-जगह बहसें उठ खड़ी हुईं। बहुत से लोग दो साम्राज्यवादी धड़ों के बीच 'सापेक्षिक प्रगतिशीलता' का तर्क देते हुए रूस के साथ खड़े होने का तर्क देने लगे। बहुत से बुद्धिजीवियों ने 'नाज़ियों पर हमले', 'अन्धराष्ट्रवाद से मुक्ति' आदि के नाम पर रूस के हमले को जायज़ ठहराना शुरु कर दिया। इधर भारत में भगवा ब्रिगेड ने अखण्ड भारत की तर्ज़ पर अखण्ड रूस का समर्थन करने जैसे हास्यास्पद अभियान भी शुरु कर दिये थे। फ़ासीवादी गिरोहों द्वारा सोशल मीडिया से लेकर तमाम जगहों पर रूस से सबक़ लेकर पाकिस्तान पर हमला कर देने, कश्मीर पर कब्ज़ा कर लेने जैसी मुहिम चलायी जाने लगी।

हमें यह बात समझनी होगी कि आज पूरी दुनिया का पूँजीपति वर्ग भयंकर आर्थिक संकट का शिकार है। मुनाफ़े की गिरती दर की वजह से आने वाला यह संकट पूँजीवादी व्यवस्था को एक ऐसी जगह पहुँचा चुका है जहाँ उसके पास धार्मिक, जातीय, नस्लीय, साम्प्रदायिक और अन्धराष्ट्रवादी उन्माद का ही सहारा बचा हुआ है। यही वजह है कि आज पूरी दुनिया भर में ऐसी दक्षिणपन्थी, तानाशाही, बोनापार्तवादी, फ़ासीवादी सत्ताओं का उभार हो रहा है। साम्राज्यवादी लुटेरों के मुनाफ़े की हवस विनाशकारी होड़ के रूप में दिख रही है जिसका नतीज़ा रूस-यूक्रेन जैसे युद्ध के रूप में भी देखा जा सकता है। युद्ध का मतलब होता है बड़े पैमाने पर उत्पादक शक्तियों की बरबादी, युद्धोन्माद और 'विदेशी शत्रु' का भय दिखाकर हथियारों की ख़रीद-फ़रोख़्त और कुछ समय के लिए पूँजीवादी संकट को संजीवनी बूटी देना। हालांकि वैश्वीकरण के दौर में जब विभिन्न देशों की पूँजी एक-दूसरे में लगी हुई हैं,

(पेज 45 पर जारी)

सामयिकी

हरियाणा के निजी क्षेत्र के रोज़गार में 75 प्रतिशत स्थानीय आरक्षण के मायने

इन्द्रजीत

विगत 15 जनवरी से राज्य में 'हरियाणा स्टेट एम्प्लॉयमेण्ट ऑफ़ लोकल कैण्डिडेट्स एक्ट, 2020' को लागू कर दिया है। इस एक्ट के अनुसार हरियाणा राज्य के निजी क्षेत्र में 75 फ़ीसदी नौकरियाँ प्रदेश के निवासियों के लिए आरक्षित कर दी गयी हैं। निजी क्षेत्र में आरक्षण को लागू करने वाला हरियाणा दूसरा राज्य है, इससे पहले आन्ध्रप्रदेश ने प्राइवेट नौकरियों में आरक्षण लागू किया था। इस एक्ट के लागू होने के बाद, अब हरियाणा में निकलने वाली ऐसी निजी भर्तियाँ जिनमें सकल वेतन 30,000 रुपये से कम होगा, उनमें नियोक्ताओं को 75% नौकरियाँ हरियाणा के निवासियों को देनी होंगी। हरियाणा के उप-मुख्यमन्त्री दुष्यन्त चौटाला इसे एक ऐतिहासिक फ़ैसला बता रहे हैं। उनका कहना है कि इससे हरियाणा के लाखों युवाओं को रोज़गार मिलेगा। हरियाणा के कुछ बाशिन्दों को खट्टर-दुष्यन्त की "ठगबन्धन" सरकार का यह फ़ैसला स्थानीय रोज़गार के प्रति कुछ सकारात्मक लग सकता है, लेकिन थोड़ी गहराई से इसकी पड़ताल करने पर पता चलेगा कि यह युवाओं को बरगलाने का टोटकाभर ही है। प्राइवेट भर्तियों में आरक्षण के मसले पर कुछ महत्वपूर्ण नुक़्तों पर बात करना बेमानी नहीं होगा।

पहली बात, इस एक्ट को पारित करने में अपनी पीठ थपथपाने वाले जननायक जनता पार्टी (जजपा) के दुष्यन्त चौटाला ख़ुद इस बात को जानते हैं कि इस एक्ट के मायने किसी चुनावी शिगूफ़े से अधिक कुछ भी नहीं होने वाले हैं और यदि पूँजीपतियों को सस्ती और "क़ाबिल" श्रम शक्ति नहीं मिलेगी तो वे पूँजी निवेश को हरियाणा से बाहर देश के अन्य राज्यों में स्थानान्तरित कर देंगे। पूँजीपतियों के कई धड़े ख़ुद भी ऐसी मंशा ज़ाहिर कर चुके हैं। इस बिल के आने के बाद पिछले साल ही 'गारमेण्ट्स एण्ड मैन्यूफ़ैक्चरिंग एसोसिएशन' ने एक आन्तरिक सर्वे करवाया था। इस सर्वे में 82 प्रतिशत पूँजी निवेशकों का यह कहना था कि अगर यह क़ानून वापस नहीं लिया गया या उद्योग को इसके प्रावधानों से छूट नहीं दी गयी तो वे आगे हरियाणा में पूँजी निवेश नहीं करेंगे। कुछ पूँजीपतियों का तो नंगे तौर पर यह कहना था कि स्थानीय मज़दूरों की जड़ें गहरी होती हैं जिस कारण से उन्हें "कण्ट्रोल करना" मुश्किल होता है, वहीं प्रवासी मज़दूरों के मामले में ऐसा झंझट नहीं होता है। यही कारण है कि पहले से ही इस एक्ट में ऐसे प्रावधान हैं कि कुशल श्रमिकों की कमी होने पर तथा अन्य "विशेष स्थितियों" में स्थानीय प्रशासन की सहमति से प्रवासी श्रमिकों की भर्ती की जा सकती है। ऐसे में स्थानीय प्रशासन की जेब गर्म करना कोई मुश्किल काम नहीं होगा। आई.टी. जैसे क्षेत्रों को पहले ही दो साल तक की छूट दी जा चुकी है और आने वाले समय में इस एक्ट से पार पाने के कुछ रास्ते ख़ुद दुष्यन्त चौटाला ही कम्पनियों को सुझा देंगे। यदि यह एक्ट वास्तविक अर्थों में लागू होता है (जिसकी सम्भावना नगण्य है) तो इसके दो ही परिणाम होंगे – एक तो जोड़-जुगाड़ करके इसका तोड़ निकाल लिया जायेगा तथा दूसरा फिर पूँजी का प्रवाह हरियाणा से निकलकर गुजरात या उत्तरप्रदेश जैसे राज्यों का रुख़ करेगा, जो पूँजीपतियों के लिए स्वर्ग की तरह हैं। दोनों ही स्थितियों में हरियाणा की बेरोज़गार आबादी की स्थिति में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला है तथा दोनों ही स्थितियों में प्रवासी श्रमिकों को और भी नारकीय हालात में धकेल दिया जायेगा। पूँजी के आर्थिक नियमों के चलते इस तरह के टोटकों से स्थानीय मज़दूर आबादी को तो कुछ ख़ास मिलना नहीं होता उल्टे प्रवासी मज़दूर आबादी को और भी अरक्षित स्थिति में पहुँचा दिया जाता है।

दूसरी बात, इस समय हरियाणा में बेरोज़गारी की स्थिति अभूतपूर्व है। ग़ौरतलब है कि 'सेण्टर फ़ॉर मोनिटरिंग इण्डियन इकॉनमी' (सीएमआईई) की हालिया रिपोर्ट के अनुसार हरियाणा में बेरोज़गारी की दर 34.1 प्रतिशत है जो कि देश में बेरोज़गारी की दर (7.4 प्रतिशत) की लगभग पाँच गुनी है। पिछली सरकारों की तुलना में नौकरियों में और भी महीन और ज़्यादा भ्रष्टाचार देखने को मिल रहा है। बिना पर्ची-ख़र्ची नौकरी देने का ढोल बजाने वाली भाजपा-जजपा सरकार में रिकॉर्ड तोड़ पेपर लीक हुए हैं, भर्तियाँ रद्द हुई हैं तथा नौकरी के बदले अरबों-खरबों की रिश्वत लेने के मामले उजागर हुए हैं। जो थोड़ी-सी सरकारी भर्तियाँ निकाली गयी हैं, उनमें से अधिकतर धाँधलेबाज़ी और भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ गयी हैं। सालों-साल पुरानी भर्तियाँ अब तक भी लटकी हुई हैं। 2018 में विज्ञापित की गयी हज़ारों भर्तियों को ख़ुद सरकार ने ही रद्द कर दिया है। आपको जानकर हैरानी नहीं होगी कि रद्द की गयी या की जाने वाली भर्तियों के 9,361 पदों के लिए 27 लाख 18 हज़ार उम्मीदवारों द्वारा आवेदन किया हुआ था। असल में हरियाणा की जनता की बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने में नाकाम भाजपा-जजपा की "ठगबन्धन" सरकार ने अपनी छवि गढ़ने के लिए प्राइवेट नौकरियों में आरक्षण का यह

लुकमा उछाला है। विभिन्न क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टियाँ रोज़गार कम होने का ठीकरा तथाकथित बाहरी लोगों पर फोड़ती रही हैं। हरियाणा में प्राइवेट नौकरियों में 75 प्रतिशत आरक्षण वाला फ़ॉर्मूला भी असल में जजपा का ही दिमाग़ी फ़ितूर है। जजपा ने चुनाव से पहले ही इसका वायदा भी किया था। भाजपा की सरकार चूँकि जजपा के साथ गठबन्धन के बाद ही बन पायी है इसलिए वह भी इस फ़ैसले पर उसकी हाँ में हाँ मिला रही है। यह फ़ैसला पूँजीवादी पार्टियों के बीच के अन्तर्विरोधों को भी दर्शाता है। वास्तव में मौजूदा दौर में पूँजीपतियों की चाकरी बजा रही फ़ासीवादी भाजपा की पहले से ऐसी कोई मंशा नहीं थी। हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर मेहनतकश जनता को बाँटने का उसके पास अपना "अधिक कारगर और प्रभावी" साम्प्रदायिक एजेण्डा तो है ही जिससे तात्कालिक तौर पर भी पूँजीपतियों के हित प्रभावित नहीं होते!

तीसरी बात, आज पूरी दुनिया में मुनाफ़े की गिरती दर का संकट गहराया हुआ है और आर्थिक मन्दी इसी की अभिव्यक्ति है। मुनाफ़े की दर का गिरना पूँजीवाद की एक दीर्घकालिक प्रवृत्ति होती है। जब मुनाफ़े की दर गिरती है यानी पूँजीपतियों के लिए लाभप्रद निवेश की सम्भावना नहीं रहती तो उत्पादन में लगने वाली पूँजी सट्टा बाज़ार या शेयर बाज़ार में लगती है। सार्वजनिक उपक्रमों की बर्बादी और सरकारी-अर्धसरकारी रोज़गारों का ख़ात्मा भी इन उपक्रमों को पूँजीपतियों के हवाले करके उन्हें पूँजी निवेश के नये क्षेत्र प्रदान कर व्यवस्था को मन्दी से उबारने का ही असफल प्रयास है। पूँजीवादी व्यवस्था अपने मूल से ही असमान विकास को बढ़ावा देती है। पूँजी को जहाँ सस्ता कच्चा माल और सस्ती श्रमशक्ति मिलेगी यह उसी ओर प्रवाह करेगी। यही कारण है कि भारत के औद्योगिक विकास में हमें इतनी असमानता दिखायी देती है। बेरोज़गारी का असल कारण ख़ुद पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में निहित होता है। प्रमुख अन्तर्विरोध पर पर्देदारी करते हुए विभिन्न पूँजीवादी राजनीतिक दल, इनमें भी ख़ासकर क्षेत्रीय दल बाहरी-भीतरी के नाम पर अपनी चुनावी गोटियों को बैठाते रहते हैं और मेहनतकश जनता की एकता को तोड़ने का काम करते हैं।

चौथी और सबसे ख़ास बात, 'हरियाणा स्टेट एम्प्लॉयमेण्ट ऑफ़ लोकल कैण्डिडेट्स एक्ट, 2020' से सबसे अधिक जो प्रभावित होगा वह है प्रवासी मज़दूर आबादी। आम तौर पर भी प्रवासी श्रमिक अपेक्षाकृत अधिक दबाव और शोषण झेलते हैं। कोई स्थानीय सहारा नहीं होने के चलते उन्हें बेहद अमानवीय हालात में जैसे-तैसे खटना पड़ता है। इस एक्ट के बाद प्रवासी श्रमिकों की स्थिति ग़ैर-क़ानूनी व्यक्तियों वाली हो जायेगी। उनके लिए राज्य सरकार द्वारा तय श्रम क़ानूनों की भी कोई क़ीमत नहीं रह जायेगी। कारख़ानेदार उन्हें मनमाने मेहनताने पर खटा सकेंगे और उन्हें ग़ैर-क़ानूनी तौर पर काम पर रखने का रास्ता प्रशासन से साँठ-गाँठ करके वे निकाल ही लेंगे। दूसरी तरफ़ वे इसी बहाने मज़दूरों को दबाकर रखेंगे और बेहद कम मज़दूरी पर काम करवायेंगे कि ये मज़दूर वहाँ ग़ैर-क़ानूनी तौर पर काम कर रहे हैं। इससे प्रवासी श्रमिकों की मज़दूरी को लेकर मोल-भाव करने की ताक़त बेहद कम हो जायेगी। उनसे लगातार इस भय के साथ काम कराया जायेगा कि एक बार उनकी नौकरी चली गयी तो दोबारा उन्हें नौकरी मिलनी असम्भव हो जायेगी और यदि वे पकड़े गये तो उन्हें तमाम उत्पीड़न का सामना करना पड़ेगा।

लुब्बेलुबाब यह है कि निजी क्षेत्र की नौकरियों में 75 प्रतिशत या कितने भी प्रतिशत आरक्षण से बेरोज़गारी की समस्या का कोई हल नहीं होने वाला है। इससे उल्टा मेहनतकश आवाम के संघर्ष और कमज़ोर होंगे। जनता के बीच क्षेत्रीयता की दीवारें और भी मज़बूत होंगी। हमें मेहनतकश जनता को आपस में बाँटने की सरकारों की साज़िशों का विरोध करना चाहिए। और इसके साथ ही हमें हर किसी को पक्के रोज़गार की गारण्टी के साथ "रोज़गार को मूलभूत अधिकार" का दर्जा दिये जाने की लड़ाई को तेज़ करने में जुट जाना चाहिए।

●

(पेज 43 से जारी)

रूस यूक्रेन युद्ध : बदलते साम्राज्यवादी समीकरण

तब पूँजी की इस गति ने विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं को कम ज़रूर किया है, लेकिन ऐसे क्षेत्रीय युद्धों/टकरावों को यह पूँजीवादी व्यवस्था लगातार जन्म देती रहेगी। हमें यह भी समझना होगा कि साम्राज्यवादी युद्ध में हमें अपने अतीत के क्रान्तिकारी नेताओं की शिक्षाओं और अनुभवों से सबक़ लेना चाहिए तथा इस या उस साम्राज्यवादी धड़े के पक्ष में नहीं खड़ा होना चाहिए, बल्कि हमें हर क़ीमत पर युद्ध का विरोध करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि दुनिया के सभी देशों के मेहनतकशों के हित एक हैं। हमें यह समझना चाहिए कि फ़िलीस्तीन, सीरिया, यमन, सोमालिया, यूक्रेन से लेकर पूरी दुनिया भर में युद्धों में हमेशा आम मेहनतकश जनता के बेटे-बेटियाँ ही मरते हैं और युद्ध हमेशा शासक वर्ग के लिए मुनाफ़ा बटोरने और अपने संकट से तात्कालिक तौर पर राहत हासिल करने का एक ज़रिया होता है। किसी भी देश के शोषित-उत्पीड़ित जनसाधारण को अपने देश के शासक वर्ग द्वारा किसी भी अन्य राष्ट्र पर किये जा रहे हमले का विरोध करना चाहिए और उस देश की मेहनतकश अवाम के साथ एकजुटता प्रकट करनी चाहिए। हमें शासकवर्ग द्वारा फैलाये जा रहे हर तरह के अन्धराष्ट्रवादी उन्माद का विरोध करना चाहिए और युद्ध का विरोध करते हुए एक समानता और न्याय पर टिके समाज के निर्माण के लिए संघर्ष में लगना चाहिए।

●

सामयिकी

जनता का जीवन रसातल में तो चुनावबाज़ पार्टियों की सम्पत्तियाँ शिखरों पर क्यों?

इन्द्रजीत

पिछले दिनों एडीआर (असोसिएशन फ़ॉर डेमोक्रेटिक रिफ़ॉर्म्स) नामक संस्था ने विभिन्न पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियों की सम्पत्तियों और उनकी देनदारियों का विवरण पेश किया है। चुनावी चन्दा लेने में सबसे आगे रहने वाली भाजपा सम्पत्ति के मामले में भी सबसे आगे है। भाजपा की कुल घोषित सम्पत्ति सात पार्टियों की कुल घोषित सम्पत्ति का क़रीब 70 प्रतिशत है। एडीआर ने अपनी रिपोर्ट में सात राष्ट्रीय बुर्जुआ पार्टियों और 44 क्षेत्रीय बुर्जुआ पार्टियों की सम्पत्तियों की जानकारी दी है। पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के दौर में फ़ासीवादी भारतीय जनता पार्टी की सम्पत्तियों में दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ोत्तरी हो रही है। एडीआर का यह ब्यौरा चुनावबाज़ पार्टियों के द्वारा 2019-20 के वित्त वर्ष के दौरान घोषित किये गये सम्पत्ति के आँकड़ों के आधार पर तैयार किया गया है। कहना नहीं होगा कि यह घोषित धन पानी में तैर रहे बर्फ़ के टुकड़े का बाहर वाला ही हिस्सा है। बर्फ़ के टुकड़े के भीतरी हिस्से की तरह अघोषित धन का एडीआर को भी कोई अता-पता नहीं है। किस पार्टी का कितना अघोषित धन देश-विदेश में दबा पड़ा होगा या बाज़ार में लगा होगा, इसकी हम-आपको कोई जानकारी नहीं है।

पूँजीपतियों की पहली पसन्द के तौर पर अब भी भाजपा ही सबसे आगे!

राष्ट्रीय पार्टियों द्वारा 6988 करोड़ 57 लाख रुपये की कुल घोषित सम्पत्ति में अकेली भाजपा का हिस्सा 4847 करोड़ 78 लाख रुपये है जोकि सभी पार्टियों की सम्पत्तियों का तक़रीबन 70 प्रतिशत बैठता है। वित्त वर्ष 2017 में भाजपा की कुल घोषित सम्पत्ति 1213 करोड़ 13 लाख तो वित्त वर्ष 2018 में 1483 करोड़ 35 लाख थी। इसी से अन्दाज़ा लग जाता है कि भाजपा असल में सेवा किसकी कर रही है और बदले में उसे मेवा कौन दे रहा है। वहीं भाजपा की तुलना में पूँजीपति वर्ग की सबसे पुरानी पार्टी कांग्रेस की कुल घोषित सम्पत्ति मात्र 588 करोड़ 16 लाख रुपये है, जिससे बसपा भी अपनी 698 करोड़ 33 लाख रुपये की सम्पत्ति के साथ आगे है यानी दूसरे स्थान पर है। सीपीएम, तृणमूल कांग्रेस, सीपीआई और एनसीपी क्रमशः चौथे से सातवें स्थान तक हैं। फ़ासीवादी भाजपा बड़े पूँजीपति वर्ग की सबसे चहेती पार्टी बनी हुई है। देश की मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े की गिरती दर के संकट ने, जोकि "अति उत्पादन" व आर्थिक मन्दी के तौर पर अभिव्यक्त हो रहा है, इस समय देश के हालात विस्फोटक बना दिये हैं। 2007-08 से ही देश की अर्थव्यवस्था मन्दी का शिकार है। यह मन्द मन्दी बीच-बीच में गहरा भी जाती है। भयंकर बेरोज़गारी, ग़रीबी, मुफ़लिसी, महँगाई जैसी पूँजीवाद की नेमतों की वजह से जनता बिलबिला रही है। ऐसे में लोग अपने असल हालात और इसके पीछे के कारणों को समझकर इस व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की तरफ़ बढ़ सकते हैं। ठीक इसीलिए पूँजीपति वर्ग को फ़ासीवादी पार्टी भाजपा की ज़रूरत है। भाजपा जनता के असली मुद्दों को हिन्दू-मुसलमान, मन्दिर-मस्जिद और फ़र्ज़ी राष्ट्रवाद की आड़ में छुपा सकती है और ऐसा करने में संघ परिवार कामयाब भी हो रहा है। यही कारण है पूँजीपति वर्ग बारिश की तरह भाजपा की झोली में पैसे की बरसात कर रहा है।

2014 में भाजपा के सत्ता में आने के बाद के पिछले सात साल से इसे लगातार सबसे अधिक चन्दा मिल रहा है। चुनाव आयोग को सौंपी गयी वार्षिक फ़ण्ड रिपोर्ट में ख़ुद भाजपा ने यह जानकारी दी है कि उसे कॉर्पोरेट और व्यक्तिगत फ़ण्ड से ही साल 2019-20 में 785 करोड़ रुपये चन्दा मिला है। यह कांग्रेस को मिले 139 करोड़ के कुल चन्दे से पाँच गुणा अधिक है। इलेक्टोरल बॉण्ड्स से मिलने वाला चन्दा पार्टियों की आय का प्रमुख ज़रिया होता है क्योंकि इसमें देने वाले का विवरण साझा करना ज़रूरी नहीं होता है। चुनावबाज़ पार्टियों को वित्त वर्ष 2019-20 में ही इलेक्टोरल बॉण्ड्स से कुल 3429 करोड़ 56 लाख रुपये की राशि चन्दे के रूप में प्राप्त हुई है। इसका 87.29 फ़ीसदी हिस्सा अकेली चार पार्टियों को मिला है। इसमें भी भाजपा का हिस्सा सबसे अधिक है। इलेक्टोरल बॉण्ड्स से भाजपा को 2555 करोड़ रुपये मिले तो कांग्रेस को इससे मात्र 317 करोड़ 86 लाख रुपये प्राप्त हुए। यह चीज़ पूँजीपति वर्ग के सामने कांग्रेस की अप्रासंगिकता को भी दर्शाती है।

देश के धन्नासेठों की ओर से मिलने वाले घोषित चन्दे का ही ब्यौरा सामने आ पाता है। अघोषित तौर पर चुनावी पार्टियों और इनके नेताओं की तिजोरियों में कितना पैसा पहुँचता है उसका विवरण तो किसी के भी पास नहीं है। यही पैसा काले धन के रूप में विभिन्न धन्धों में लगा होता है, यही पैसा स्विस, पनामा और पैराडाइज़ जैसे टैक्स हैवन्स से घूमकर एफ़डीआई के तौर पर देश

में दोबारा आता है और सफ़ेद हो जाता है। संकट के इस दौर में पूँजीपति वर्ग भाजपा पर मेहरबान है। पूँजीपति वर्ग की ओर से होने वाली मूसलाधार धनवर्षा के बदले में भाजपा भी जनता के संघर्षों को दबाने-कुचलने और उसे आपस में लड़ाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रही है।

चुनावबाज़ पार्टियों के छलके ख़ज़ाने और जनता का हाल बेहाल!

लेखा वर्ष 2019-20 में सात राष्ट्रीय चुनावी दलों की कुल घोषित सम्पत्ति 6988 करोड़ 57 लाख रुपये है। वहीं लेखा वर्ष 2016-17 में इनकी कुल घोषित सम्पत्ति 3260 करोड़ 81 लाख रुपये थी। 44 क्षेत्रीय पार्टियों की कुल घोषित सम्पत्ति 2129 करोड़ 38 लाख रुपये है। पूँजीपति वर्ग के विभिन्न धड़ों का प्रतिनिधित्व करने वाली ये पार्टियाँ अपने आक़ाओं की बदौलत मालामाल हो रही हैं। इनकी सम्पत्तियों का प्रमुख स्रोत होता है इन्हें मिलने वाला चन्दा। इन्हें मिलने वाले चन्दे का बड़ा हिस्सा मज़दूर वर्ग और आम जनता की मेहनत और उनके संसाधनों को निचोड़ने वाला पूँजीपति वर्ग और उसके विभिन्न चुनावी ट्रस्ट देते हैं। साल 2018 के आँकड़े देखें तो भाजपा को 92 फ़ीसदी चन्दा तो कांग्रेस को 85 फ़ीसदी चन्दा कॉर्पोरेट कम्पनियों और बड़े पूँजीपति घरानों से मिला था। इसके अलावा बड़े दुकानदार, धनी किसान, व्यापारी, व्यवसायी, ठेकेदार, उच्च आय सम्पन्न नौकरीपेशा उच्च मध्यवर्ग के लोग भी इन्हें चन्दा देते हैं।

जिस आम आदमी के नाम पर ये दल चुनावी गटरगंगा में उतरते हैं उसका हाल किसी से छुपा हुआ नहीं है। भारत में रहने वाली आबादी वैसे तो दुनिया की आबादी का छठा हिस्सा है लेकिन दुनिया की ग़रीब व कंगाल आबादी का आधा हिस्सा अकेले भारत में रहता है। हाल ही में आयी ऑक्सफ़ैम की रिपोर्ट बताती है कि हालिया वर्ष 2021 में 84 प्रतिशत घरों की आमदनी तेज़ी से घटी है। वहीं भारत के 100 सबसे अमीर परिवारों की आमदनी में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। देश के 98 धन्नासेठों के पास उतना धन इकट्ठा हो गया है जितना देश के 55 करोड़ लोगों के पास भी नहीं है। वहीं देश में खरबपतियों की संख्या 102 से बढ़कर 142 हो गयी है। कहना नहीं होगा कि केन्द्र और राज्य स्तर पर विभिन्न पार्टियों की सरकारों ने महामारी के समय भी पूँजीपतियों को अपना ख़ज़ाना भरने का मौक़ा दिया है।

पूँजीपति वर्ग और शासक वर्ग के विभिन्न धड़े मज़दूरों, ग़रीब किसानों और आम मेहनतकश जनता की मेहनत और कुदरत को लूटते हैं। विभिन्न पार्टियों की सरकारें इस लूट को आसान बनाने का काम करती हैं। पूँजीपति वर्ग कमेरे वर्ग की श्रमशक्ति की अकूत लूट में से ही चन्दे के नाम पर चन्द टुकड़े चुनावबाज़ पार्टियों के सामने उछाल देता है। इसी से पूँजीपति वर्ग की विभिन्न पार्टियों के ख़ज़ाने में उछाल आ जाता है। विभिन्न प्रकार का भ्रष्टाचार व देश की ज़मीनों और संसाधनों पर क़ब्ज़ा भी चुनावबाज़ पार्टियों की सम्पत्तियों में बढ़ोत्तरी करता है।

संशोधनवादी वामपन्थी पार्टियाँ भी सम्पत्ति के मामले में पीछे नहीं हैं

सम्पत्ति के मामले में नामधारी वामपन्थी पार्टियाँ भी देश की चोटी की पाँच घोषित बुर्जुआ पार्टियों की पंगत में विराजमान हैं। हालाँकि उनकी तुलना में इनकी सम्पत्ति काफ़ी कम है। माकपा (सीपीएम) की कुल घोषित सम्पत्ति 569 करोड़ 52 लाख है जबकि भाकपा (सीपीआई) की कुल घोषित सम्पत्ति 29 करोड़ 78 लाख है। सम्पत्ति के मामले में सात राष्ट्रीय चुनावबाज़ पार्टियों में माकपा चौथे तो भाकपा छठे स्थान पर है। ये पार्टियाँ दम तो मज़दूर वर्ग की राजनीति का भरती हैं लेकिन मज़दूर वर्ग को अर्थवाद व संविधानवाद के गोल घेरे में गोल-गोल घुमाकर काम असल में पूँजीपति वर्ग की दूसरी सुरक्षा पंक्ति का करती हैं। मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को इन्होंने (भाकपा ने 1951 में और माकपा 1964 में इसके बिना ही पैदा हुई थी) तिलांजलि दे दी है इसीलिए इन्हें संशोधनवादी कहा गया है। संशोधनवादी वामपन्थी पार्टियों को छोटे पूँजीपति वर्ग, संगठित सफ़ेद कॉलर कुलीन मज़दूर और संगठित क्षेत्र के कुछ अन्य मज़दूर, मध्यवर्ग का एक छोटा हिस्सा, धनी व उच्च-मध्यम पूँजीवादी किसान वर्ग के कई हिस्से चन्दा देते हैं। इसके अलावा इनकी अर्थवादी ट्रेड-यूनियनों से जुड़े कर्मचारी भी इन्हें चन्दा देते हैं जोकि पार्टी फ़ण्ड में भी आता है। इन पार्टियों के ही अनुसार वित्त वर्ष 2020 में सीपीएम को 93 करोड़ दो लाख रुपये और सीपीआई को तीन करोड़ दो लाख रुपये चन्दा प्राप्त हुआ था।

जो जिसका (पैसा) खाता है वह उसी का (हुक्म) बजाता है!

कुल मिलाकर कहा जाये तो पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति तो मालामाल होते ही हैं, इनके हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली विभिन्न चुनावबाज़ पार्टियाँ भी मालामाल रहती हैं। जो जिसका खाता है वह उसी का हुक्म बजाता है! पूँजीवादी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए विभिन्न पूँजीवादी दल वोट का खेल खेलते रहते हैं। एक ओर जनता की आँखों पर लोकतन्त्र के भ्रम का पर्दा पड़ा रहता है और दूसरी ओर उसकी लूट बदस्तूर जारी रहती है। पूँजीपति वर्ग के द्वारा जनता की मेहनत और कुदरत की लूट में से कुछ हिस्सा चुनावबाज़ पार्टियों को भी दे दिया जाता है। यही नहीं कई बार तो धन्नासेठ, नेता और माफ़िया एक ही व्यक्ति होता है। आज पूँजीपति वर्ग को भाजपा जैसी फ़ासीवादी पार्टी की सबसे अधिक ज़रूरत है इसलिए वह उसी पर सबसे अधिक धन लुटा रहा है। बदले में भाजपा भी पूँजीपरस्त नीतियों के द्वारा पूँजीपति वर्ग की सेवा कर रही है। नोटबन्दी, एफ़डीआई, जीएसटी, नेप, सार्वजानिक क्षेत्रों की बर्बादी और मौद्रीकरण इसी के पर्याय हैं। देश के कमेरे लोग व्यवस्था को अन्त तक न पहुँचा दें इसलिए फ़ासीवादी भाजपा अन्य चुनावबाज़ पार्टियों से अलग स्तर पर जाकर जनता को धर्म-जाति-क्षेत्र के नाम पर बाँटने में लगी रहती है और अपने आक़ाओं के नमक का क़र्ज़ अदा करती है। ●

शिक्षा जगत

नयी शिक्षा नीति पर अमल का असर: विश्वविद्यालयों में बढ़ती फ़ीस

नीशू

'अखिल भारतीय शिक्षा समागम' में प्रधानमन्त्री मोदी ने कहा कि 'हमारे लिए विकास का मतलब चमक-दमक नहीं, बल्कि ग़रीब दलित, वंचित, पिछड़े आदिवासी माताओं-बहनों और सबका सशक्तिकरण है।' सुनने में यह बात काफ़ी अच्छी लगती हैं लेकिन वास्तव में इसके निहितार्थ कुछ और ही हैं। वर्ग विभाजित समाज में हर बात और हर नारे का एक वर्गीय परिप्रेक्ष्य होता है। दरअसल प्रधानमन्त्री मोदी कहना चाहते हैं कि आम जनता की मेहनत की लूट पर टिकी पूँजीपतियों की चमक-दमक की तरफ़ कान मत दो! पूँजीपतियों की चहेती मोदी सरकार दमन-उत्पीड़न के तमाम हथकण्डों के ज़रिये जिन मुट्ठी भर धनपशुओं की सेवा में जुटी है, वास्तव में उन्हीं की ज़िन्दगी में दुनिया भर की सारी चमक-दमक है और सत्तासीन फ़ासिस्टों का गिरोह लगातार इन्हीं का सशक्तिकरण कर रहा है। बाकी देश की लगभग 80 फ़ीसदी आम आबादी को केवल लफ़्फ़ाज़ियों का लॉलीपॉप ही नसीब होता है।

जिस 'नयी शिक्षा नीति' का गुणगान करने में मोदी-योगी समेत पूरी फ़ासिस्ट मण्डली लगी हुई है, वह कुछ और नहीं बल्कि लफ़्फ़ाज़ियों की आड़ में शिक्षा को देशी-विदेशी पूँजीपतियों को सौंपने की नीति है। जैसे-जैसे नयी शिक्षा नीति पर अमल हो रहा है, वैसे-वैसे उसकी सच्चाई भी आम जनता के सामने खुलती जा रही है। मोदी की इस नयी शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के प्रशासनिक केन्द्रीकरण और वित्तीय स्वायत्तता पर ज़ोर दिया गया है जिसका असर अब जगह-जगह दिखने लगा है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की नवप्रवेशी छात्रों के लिए फ़ीस 400 फ़ीसदी और कुछ-कुछ कोर्सों में इससे भी ज़्यादा बढ़ा दी गयी है। दिल्ली विश्वविद्यालय, कानपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय समेत देशभर के कई केन्द्रीय विश्वविद्यालयों और राज्य विश्वविद्यालयों, इंजीनियरिंग, मेडिकल, नर्सिंग आदि की फ़ीस में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। बीएचयू में भी पिछले सत्र में हॉस्टल की फ़ीस में वृद्धि की जा चुकी है। शिक्षा पर इस सरकारी हमले का कोई विरोध न कर सके, इसका भी इन्तज़ाम नयी शिक्षा नीति में मौजूद है। शिक्षा के अधिकार पर हो रहे इस हमले के ख़िलाफ़ छात्रों के आन्दोलन को कुचलने के लिए विश्वविद्यालयों के आस-पास पुलिस चौकियों का निर्माण किया जा रहा है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय तो शहर का दूसरा पुलिस लाइन बन चुका है। फ़ीस वृद्धि के विरुद्ध छात्रों के आन्दोलन को विश्वविद्यालय प्रशासन की शह पर पुलिसिया गुण्डागर्दी के ज़रिए दबाया जा रहा है। जिस दिन प्रधानमन्त्री मोदी बनारस में शिक्षाविदों के साथ मीटिंग कर रहे थे, उसी दिन बनारस के ही श्री बलदेव पीजी कॉलेज में फ़ीस बढ़ोत्तरी के ख़िलाफ़ आन्दोलनरत छात्रों को दौड़ा-दौड़ाकर पीटा जा रहा था। फ़ासीवादी सरकार ग़रीबों, दलितों, वंचितों, आदिवासियों आदि का सशक्तिकरण ऐसे ही करती है।

'नयी शिक्षा नीति' आसमान से नहीं टपक पड़ी है। वास्तव में आज़ादी के बाद से ही शिक्षा नीति भारतीय शासक वर्ग की ज़रूरतों के मद्देनज़र बनायी जाती रही है। 1990-91 के बाद पूँजीपति वर्ग की बदलती ज़रूरतों व आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा नीति में समय-समय पर ज़रूरी परिवर्तन किये गये हैं। नयी शिक्षा नीति - 2020 पुरानी शिक्षा नीतियों की ही निरन्तरता है, जिसमें शिक्षा के भगवाकरण का पहलू और जुड़ गया है।

आज़ाद भारत में शिक्षा नीति का संक्षिप्त इतिहास:

आज़ादी के बाद 1948 में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में 1948 में 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग' का गठन किया गया जिसने एक साल बाद अपनी रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट में उच्च शिक्षा के संचालन के लिए स्वायत्त संस्था के निर्माण की सिफ़ारिश की गयी। 1956 में यूजीसी (यूनिवर्सिटी ग्राण्ट कमीशन) की स्थापना की गयी। जिसका कार्य उच्च शिक्षण संस्थानों को अनुदान देना, शिक्षकों की बहाली तथा अन्य आधारभूत ज़रूरतों को संचालित करना आदि था। नवस्वाधीन पूँजीपति वर्ग को अपनी व्यवस्था चलाने के लिए टेक्नोक्रेट, ब्यूरोक्रेट्स की ज़रूरत थी, जिसके लिए जनता के टैक्स से विश्वविद्यालय और आईआईटी जैसे संस्थान खोले गये। आज़ादी के समय देशभर में जहाँ 20 विश्वविद्यालय थे, वहीं 1970 के अन्त तक क़रीब 100 विश्वविद्यालय हो गये।

1968 में देश में पहली व्यवस्थित शिक्षा नीति आयी जिसमें राष्ट्रीय विकास के प्रति वचनबद्ध, चरित्रवान तथा कार्य कुशल युवक-युवतियों को तैयार करने का लक्ष्य रखा गया। यहाँ सवाल यह है कि किसके लिए वचनबद्ध? किसके लिए चरित्रवान? और किसके लिए कार्य कुशल? ज़ाहिरा तौर एक पूँजीवादी व्यवस्था

का कोई भी दस्तावेज पूँजीपति वर्ग के हितों के मद्देनज़र ही तैयार होता है। यह दस्तावेज शिक्षा पर जीडीपी का कम से कम 6 फ़ीसदी ख़र्च करने की बात करता था, लेकिन ऐसा न होने की सूरत में ज़वाबदेही का कोई प्रावधान नहीं था।

राजीव गाँधी सरकार द्वारा लायी गयी दूसरी राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 भारत में शिक्षा के निजीकरण का पहला दस्तावेज थी। इसके साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण की सुव्यवस्थित शुरुआत हुई। इस दस्तावेज़ में साफ़-साफ़ इस बात का ज़िक्र किया गया कि उच्च शिक्षा संस्थानों को बेहतर रूप से संचालित करने के लिए चन्दा इकट्ठा करना तथा इमारतों के रखरखाव एवं रोज़मर्रा के काम आने वाली वस्तुओं की पूर्ति के लिए स्थानीय लोगों की सहायता लिया जाना चाहिए। शिक्षा नीति के प्रावधान को उस समय आयी विश्व बैंक की विकासशील देशों पर रिपोर्ट, जिसमें कहा गया था कि "आर्थिक संसाधनों की कमी को देखते हुए शिक्षा पर आने वाले ख़र्च का बड़ा हिस्सा अभिभावकों पर डाला जाये" के साथ जोड़ कर देखने पर आगे स्पष्टीकरण की कोई ज़रूरत नहीं बचती।

शिक्षा के बाज़ारीकरण का अगला पड़ाव 1991 में नरसिंह राव सरकार द्वारा उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के तहत शिक्षा को पूरी तरह से बाज़ारू माल में तब्दील करना था। अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी पूँजीपतियों को मुनाफ़ा कमाने की छूट दे दी गयी। इसके लिए अलग-अलग समय पर अलग-अलग कमेटियाँ बनायी गयी। जैसे 1992-93 में क्रमश: जस्टिस पूनिया और डी स्वामीनाथन की अध्यक्षता में दो कमेटियाँ बनी जिसमें जस्टिस पूनिया समिति ने 1993 में उच्च शिक्षा के निजीकरण के पक्ष में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए कहा कि "कोई भी समाज जो ग़रीबी और ग़ैर-बराबरी से जूझ रहा हो, वह विश्वविद्यालयों में हो रही फ़ुज़ूलख़र्ची के सब्सिडीकरण का समर्थन नहीं कर सकता। वहीं डी. स्वामीनाथन समिति ने फ़ीस वृद्धि, स्ववित्तपोषित कोर्सेज़ को शुरू करने तथा स्कॉलरशिप के बदले स्टूडेण्ट लोन की सिफ़ारिश की। 1997 में वित्त मन्त्रालय द्वारा एक दस्तावेज़ जारी किया गया जिसमें उच्च शिक्षा को 'नॉन मेरिट गुड' की श्रेणी में रखा गया। जिससे पहली बार आधिकारिक रूप से शिक्षा ख़रीदने बेचने वाले माल में बदल गयी और शिक्षण संस्थान दूकानों में बदल गये।

वर्ष 2000 में 'मुकेश अम्बानी' व 'कुमारमंगलम बिड़ला' की सदस्यता वाली समिति ने सरकार को रिपोर्ट सौंपी। जिसमें कहा गया कि सरकार एक प्रक्रिया में विश्वविद्यालयों को वित्तीय सहयोग देने में कटौती करती जाय। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका अनुदान देने की नहीं रहनी चाहिए, निजी विश्वविद्यालय खोले जाने हेतु एक निजी विश्वविद्यालय विधेयक बनाने की सिफ़ारिश की गयी। ऐसे विश्वविद्यालयों की ख़र्चीली फ़ीस का भार उठाने के लिए विद्यार्थियों को क़र्ज़ देने का प्रावधान किया गया। इस रपट का स्पष्ट मानना है कि शिक्षा को सामाजिक विकास के एक अंग के रूप में देखने की वर्तमान सोच छोड़कर हमें शिक्षा को निवेश के एक क्षेत्र के रूप में देखना चाहिए।

उच्च शिक्षा के बाज़ारीकरण के प्रयास वैसे तो पिछले तीन दशक से भी अधिक समय से जारी है। जिसका पहला चक्र यूपीए-1 के शासन काल में तब पूरा हुआ, जब तत्कालीन प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने 2005 में दोहा में शिक्षा को डब्ल्यूटीओ-गेट्स समझौते के अन्तर्गत लाने के लिए वार्ता पर सहमति दी थी। इस फ़ैसले की परिणति तब हुई जब वर्तमान प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने दिसम्बर 2017 में नैरोबी में इस समझौते पर दस्तख़त किये। यानी अब भारत का शिक्षा बाज़ार देशी-विदेशी दोनों क़िस्म की पूँजी के लिए खोल दिया गया। शिक्षा के क्षेत्र में जैसे-जैसे निजीकरण बढ़ता गया उसी अनुपात में शिक्षा पर सरकारी ख़र्च भी सिमटता गया है। ऊपर दिये गये ग्राफ़ से यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

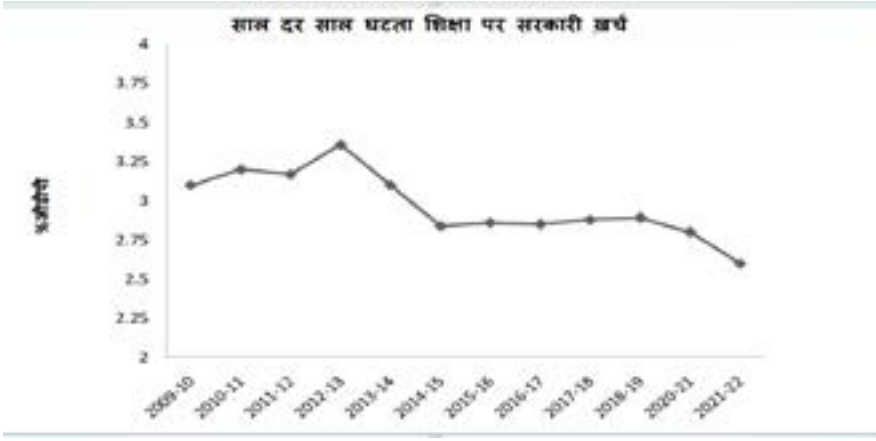

मोदी सरकार नयी शिक्षा नीति -2020 के समर्थन में विश्वविद्यालयों-कॉलेजों में विभिन्न कार्यक्रम आयोजित कर रही है। इससे छात्रों-युवाओं की एक बड़ी संख्या सरकारी प्रचार के प्रभाव में दिग्भ्रमित हो रही है। वहीं नवउदारवादी नीतियों

के लागू होने के बाद देश में एक नवढनाढ्य वर्ग पैदा हुआ है जो बाज़ार और फ़ासीवादी प्रचार की भाषा बोल रहा है। उसका तर्क है कि अगर विश्वविद्यालय फ़ीस नहीं बढ़ायेगा तो इन्फ्रास्ट्रक्चर कैसे खड़ा होगा? शिक्षकों की भर्ती कैसे होगी? अच्छी सुविधा कैसे मिलेगी? आदि। इन कुतर्कों से एक बात तो स्पष्ट है कि यह वर्ग प्रतिक्रियावादी जनविरोधी ही नहीं मूर्ख भी है। जो न केवल अपने हक़ों-अधिकारों को छोड़ रहा है, बल्कि शासक वर्ग की प्रतिक्रियावादी राजनीति के साथ खड़ा है। ख़ुद के ज़्यादा समझदार और जागरूक होने के दम्भ में जीने वाला यह वर्ग शायद ही कभी नेताओं-मन्त्रियों को मिलने वाली छूटों-सुविधाओं (यात्रा, चिकित्सा, फोन, पेंशन आदि), नेताओं की रैलियों और विज्ञापनों पर होने वाले ख़र्चों पर सवाल उठाता हो। विश्वविद्यालय प्रशासन भी सरकार की हाँ में हाँ मिलाते हुए कुतर्क गढ़ रहा है। जैसे - वार्षिक कैलेण्डर में फ़ोटो के नाम पर लाखों रुपये का वारा-न्यारा करने वाला इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रशासन बढ़ी हुई फ़ीस पर बहुत ही घिसी-पिटी दलील दे रहा है और बेशर्मी से वित्तीय संसाधनों की कमी का रोना रो रहा है। ऐसे ही बीएचयू में पिछले सत्र में हॉस्टलों की फ़ीस में वृद्धि कर दी गयी और इस सत्र में गोरखपुर विश्वविद्यालय में फ़ीस बढ़ाने की तैयारी चल रही है। सच्चाई यह है कि बेतहाशा फ़ीस वृद्धि और कुछ नहीं बल्कि सार्वजनिक शिक्षण संस्थानों का चोर दरवाज़े से निजीकरण की दिशा में बढ़ा हुआ एक क़दम है।

नयी शिक्षा नीति 2020 में नया क्या है?

छात्रों-युवाओं को फ़ासीवादी सरकार की प्रचार मशीनरी के नयी शिक्षा नीति के समर्थन में दिये जा रहे कुतर्कों को समझना होगा। आइये देखते हैं कि जिस नीति का ग़रीबों, दलितों, आदिवासियों के हक़ में और "राष्ट्र" के विकास में "नयी" नीति के रूप में ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसमें नया क्या है?

मोदी सरकार द्वारा लायी गयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में नया केवल यह है कि यह पूर्ववर्ती सभी शिक्षा नीतियों को पीछे छोड़ते हुए प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक को कारपोरेट पूँजी के हवाले करने का दस्तावेज़ तो है ही साथ ही यह शिक्षा के भगवाकरण के ज़रिये देश के शिक्षा तन्त्र को फ़ासीवादी प्रयोग की पाठशाला में भी बदलने का दस्तावेज़ है।

नयी शिक्षा नीति के तहत पूँजीपतियों की आपसी प्रतिस्पर्धा के मद्देनज़र सस्ते श्रमिकों की आपूर्ति के लिए वोकेशनल सेण्टर आईटीआई, पॉलिटेक्निक आदि को बढ़ावा दिया जा रहा है। जिससे पूँजीपतियों को सस्ते मज़दूर मिल सके और शिक्षा पर ख़र्च भी कम करना पड़े। छठी से ही बच्चों को छोटे-मोटे काम धन्धे सिखाये जाने का सुझाव दिया जा रहा है। पहले से ही लागू सेमेस्टर सिस्टम, एफ.वाई.यू.पी., सी.बी.सी.एस. आदि स्कीमें भारत की शिक्षा व्यवस्था को अमेरिकी पद्धति के अनुसार ढालने का प्रयास भर थी। लेकिन मोदी सरकार इस शिक्षा नीति के ज़रिये पूरे शिक्षा तन्त्र को ही देशी-विदेशी लुटेरों के हाथों में सौंपने का रोड मैप तैयार कर चुकी है।

नयी शिक्षा नीति के प्रावधान के मुताबिक़ विश्वविद्यालयों को अनुदान देने की संस्था यूनिवर्सिटी ग्राण्ट कमीशन को ख़त्म करके उच्च शिक्षा की मॉनिटरिंग और वित्त के लिए दो नये संस्थान एचएसीआई (हेकी) और एचईएफए (हेफ़ा) बनाया गया। हेफ़ा शिक्षण संस्थानों को अनुदान नहीं बल्कि क़र्ज़ देगी। जो क़र्ज़ संस्थानों को 10 वर्ष के भीतर चुकाना होगा। इस शैक्षिक सत्र में केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को अपने कुल ख़र्च का 30 फ़ीसदी हिस्सा अपने स्रोत-संसाधनों से जुटाने का लक्ष्य दिया गया है। ज़ाहिरा तौर पर यह ख़र्च फ़ीस बढ़ाकर छात्रों-युवाओं से ही वसूला जायेगा।

अगर इस पृष्ठभूमि में देखें तो फ़ीस में हो रही बेतहाशा वृद्धि कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि लम्बे समय से इसकी पूर्वपीठिका तैयार की जा रही थी। इसके ख़िलाफ़ कोई व्यापक छात्र उभार न हो इसके लिए विश्वविद्यालयों में लगातार प्रशासनिक जकड़बन्दी मज़बूत की जा रही है। लोकतन्त्र और जनवाद की चाशनी में परोसी गयी नयी शिक्षा नीति में छात्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले छात्रसंघ का ज़िक्र तक नहीं है। ऊपर से बोर्ड ऑफ़ गवर्नर्स (बीओजी) का एक नया तन्त्र सुझाया गया है जो विश्वविद्यालय समुदाय के प्रति किसी भी रूप में जवाब देह नहीं होगा। बीओजी के पास फ़ीस पर फ़ैसला करने, उच्च शिक्षण संस्थान (एचईआई) के प्रमुख सहित नियुक्तियाँ करने और शासन के बारे में निर्णय लेने का अधिकार होगा। शासन का यह मॉडल स्वायत्तता और अकादमिक उत्कृष्टता को केन्द्रीकृत और नष्ट कर देगा। इस तरह यह दस्तावेज़ कैम्पसों के बचे-खुचे जनवादी स्पेस का भी गला घोंट देने वाला है। यह शिक्षा नीति शिक्षण-संस्थानों को शैक्षिक-प्रशासनिक और वित्तीय स्वायत्तता देने की बात करती है। लेकिन दूसरी तरफ़ प्रशासनिक केन्द्रीकरण का पुरज़ोर समर्थन भी करती है। विश्वविद्यालयों के लिए राष्ट्रीय शिक्षा आयोग गठित किया जायेगा, जिसकी अध्यक्षता शिक्षा मन्त्री करेंगे, और राज्य सरकारों के संस्थानों पर भी केन्द्र का नियन्त्रण होगा। आयोग के सदस्यों का चयन भी प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता वाली एक कमेटी करेगी। यानी पूरे देश में केजी से लेकर पीजी तक – पूरी शिक्षा व्यवस्था पर प्रधानमन्त्री का हुक्म चलेगा।

फ़ीस में बढ़ोत्तरी तो नयी शिक्षा नीति का तत्काल दिखने वाला प्रभाव है। आने वाले समय में इसके और भी विध्वंसक प्रभाव हमारे सामने आयेंगे। इसलिए छात्रों-युवाओं को केवल फ़ीस वृद्धि के ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि नयी शिक्षा नीति-2020 के ख़िलाफ़ जुझारू और व्यापक संघर्ष में उतरना होगा।

●

सामयिकी

सामाजिक कार्यकर्ताओं को जेल और अपराधियों को क्लीनचिट : फ़ासीवाद का न्यायिक मॉडल

शिवा

नये रामराज्य का फ़रमान
सन्देह करने वाले को उम्रक़ैद
तर्क करने वाले को फाँसी
अल्पमत पर बहुमत का धर्मराज्य
नास्तिकों को सूली
-इन सबको
दैहिक-दैविक-भौतिक ताप से पूर्ण मुक्ति
-कात्यायनी

प्रधानमन्त्री मोदी के "रामराज्य" में न्याय, तर्क, विज्ञान जैसे शब्द किसी नागरिक को जेल की सलाखों की सैर करा सकता है। आज देश एक ऐसे विकट दौर से गुज़र रहा है जहाँ मोदी और मोदी सरकार के विरोध में उठने वाली हर आवाज़ का गला बेरहमी से घोंटा जा रहा है। इसी कड़ी में मानवाधिकार कार्यकर्ता और गुजरात दंगों के पीड़ितों का साथ देने वाली तीस्ता सीतलवाड़, गुजरात दंगों और अन्य मामलों में भी गुजरात में मोदीराज के ख़िलाफ़ बहादुरी से लड़े आईपीएस अधिकारी आरबी श्रीकुमार तथा फ़र्ज़ी ख़बरों का पर्दाफाश करने वाले ऑल्ट न्यूज़ के सह संस्थापक ज़ुबैर की गिरफ़्तारी "फ़ासिस्ट न्याय" के कुछ तात्कालिक उदहारण हैं।

तीस्ता सीतलवाड़ पिछले लम्बे समय से फ़ासीवादी ताक़तों के लिए नासूर बनी हुई थीं। 1992 में जब देशभर में फ़ासिस्ट नंगा नाच कर रहे थे, चारो तरफ़ उन्माद का माहौल पैदा किया जा रहा था, साम्प्रदायिक आग भड़काई जा रही थी जिसकी परिणति 6 दिसम्बर, 1992 को बाबरी मस्जिद के विध्वंस से होते हुए 1993 में मुम्बई बम ब्लास्ट के रूप में हुई, तब तीस्ता सीतलवाड़ इस फ़ासिस्ट उन्माद में मारे गये लोगों के परिवार के लिए अदालती लड़ाई लड़कर सरकार से मदद दिलाने में लगी हुई थीं।

2002 के गुजरात दंगो और गुलबर्ग सोसाइटी में एहसान जाफ़री की हत्या के सिलसिले में गुजरात एसआईटी के ख़िलाफ़ जकिया जाफ़री और तीस्ता सीतलवाड़ की याचिका को सुप्रीम कोर्ट की एक बेंच ने ख़ारिज कर प्रधानमन्त्री मोदी को क्लीनचिट दे दी है। सुप्रीम कोर्ट ने गुजरात एसआईटी की रिपोर्ट को सही बताया है जिसमें तत्कालीन मोदी सरकार के ख़िलाफ़ लगे आरोपों को बेबुनियाद बताया गया है। साथ ही बिना किसी याचिका के सुप्रीम कोर्ट ने ख़ुद ही वकील और ख़ुद ही न्यायाधीश बनकर तीस्ता सीतलवाड़ पर मनगढ़न्त सबूत गढ़कर क़ानून की प्रक्रिया का दुरूपयोग करने का आरोप भी लगा दिया। 24 जून को सुप्रीम कोर्ट के बयान के आधार पर अहमदाबाद की अपराध शाखा द्वारा तीस्ता सीतलवाड़, आरबी श्री कुमार और संजीव भट्ट के ख़िलाफ़ 25 जून को जालसाजी, साज़िश और अन्य धाराओं के तहत एफआईआर दर्ज़ की गयी। 26 जून को गुजरात एटीएस की टीम ने मुम्बई में तीस्ता सीतलवाड़ के घर पर दस्तक दी और उन्हें हिरासत में लेकर पहले सान्ताक्रूज पुलिस स्टेशन ले गयी और उसके बाद उन्हें पूछताछ के लिए अहमदाबाद ले गयी। ध्यान रहे कि यह वही प्रशासन है जो गुजरात दंगों के दौरान फ़ासिस्टों की सारी बर्बरता पर आँखे मूँदे, कान में तेल डालकर सो रहा था।

क्या ज़ुल्म की ऐसी दास्तान बिना सरकारी देखरेख और संरक्षण के लिखी जा सकती है? इसका केवल एक ही जवाब हो सकता है - नहीं! यह एक राज्य प्रायोजित सामूहिक नरसंहार की घटना थी। तमाम राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय रपटें इसके बारे में चीख़-चीख़ कर सच्चाई बयान करती हैं। बाबू बजरंगी का बयान आज भी मौजूद है। तहलका की पत्रकार राना अय्यूब के दस साल तक खोजबीन करने के बाद आयी उनकी किताब 'गुजरात फ़ाइल्स' में भी ये बातें सामने आयी हैं। गुजरात दंगा भड़काने के एक रात पहले गुजरात के तत्कालीन मुख्यमन्त्री और आज के प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने अपने सरकारी बंगले में ही एक गुप्त मीटिंग बुलायी थी। इस मीटिंग में मन्त्री, आला अधिकारी और पुलिस अधिकारी शामिल थे। इस मीटिंग में मोदी द्वारा अधिकारियों को अघोषित तौर पर आदेश दिया कि अगले दिन गोधरा (गोधरा ट्रेन काण्ड जिसमें कारसेवकों से भरी एक बोगी में आग लगा दी गयी थी, इस आग में झुलसकर 57 कारसेवकों की मौत हो गयी थी) मामले में "न्याय" होगा और पुलिस को "हिन्दू प्रतिक्रिया" की राह में न आने को कहा। इन्हीं दंगों की वजह से मोदी को अमेरिकी वीजा नहीं मिला था और ब्रिटेन ने दस साल तक अपने रिश्ते तोड़े रखे।

जिस व्यक्ति के ख़िलाफ़ सारे सबूत सामने आ चुके थे उसे क्लीन चिट दे दी गयी और उसका हमारे समाज में कोई मज़बूत प्रतिरोध नहीं हुआ। यह दिखाता है कि फ़ासीवादी झूठ के प्रचार तन्त्र ने किस हद तक जनवादी चेतना को भोथरा करने का काम किया है और जनमानस का साम्प्रदायीकरण किया है। यह सच है कि इन बीस सालों में भारतीय न्यायपालिका ने मोदी शाह के दामन में लगे ख़ून के धब्बों को साफ़ करने में सफलता पायी है,

(पेज 53 पर जारी)

स्मृति शेष

जनपक्षधर नाट्यकर्मी कुँवरजी को अलविदा!

आह्वान टीम

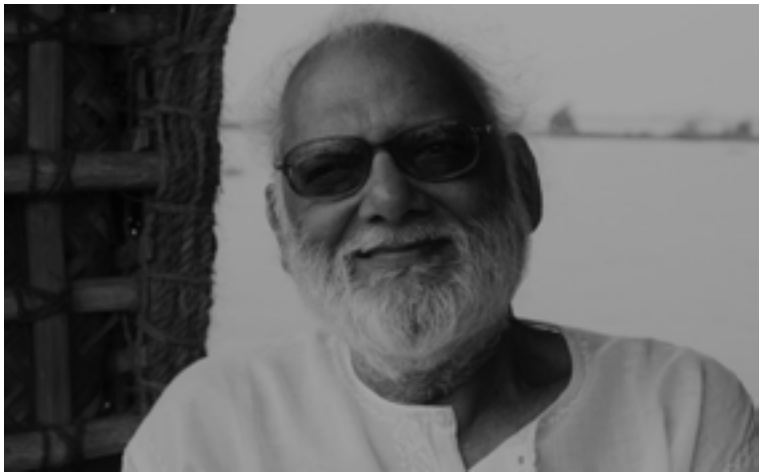

विगत 12 जुलाई को प्रसिद्ध नाट्यकर्मी, लेखक, समीक्षक कुँवरजी अग्रवाल ने अपने प्रिय शहर बनारस में इस दुनिया से विदा ली। 89 वर्षीय कुँवरजी नाट्यकर्म की एक बहुत लम्बी, प्रयोगधर्मी, जुझारू और जनपक्षधर परम्परा के सच्चे प्रतिनिधि थे। कुँवरजी की रंगकर्म की बहुत गहरी समझ थी और जनपक्षधर रंगकर्म के प्रति उनकी प्रतिबद्धता अटूट थी। कुँवरजी के जाने के बाद उनकी लम्बी, जुझारू परम्परा से उनके नाटकों, रचनाओं, लेखों आदि के ज़रिये कोई भी जुड़ सकता है। लेकिन फिर भी उनके नाट्यबोध व विराट अनुभव संसार से प्रत्यक्ष हो पाना अब सम्भव नहीं होगा।

कुँवरजी एक नाट्यकर्मी के रूप में सही मायने में बनारस में ही जन्मे थे। बनारस से अपने आत्मिक लगाव की वजह से तमाम विकल्पों के होने के बावजूद भी बनारस ही मृत्युपर्यन्त उनकी कर्मभूमि बना रहा। कुँवरजी की सामाजिक सक्रियता देश की आज़ादी के पहले ही शुरू हो गयी थी, जब उन्होंने बहुत कम उम्र में मई 1947 में अपने साथियों के साथ मिलकर 'स्वतन्त्र पुस्तकालय' की स्थापना की थी। अगले कई वर्षों तक यह पुस्तकालय बनारस में सामाजिक-साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बना रहा। युवा कुँवरजी की रंगकर्म में रुचि विकसित होने और रंगकर्म की दुनिया में प्रवेश का ज़रिया भी यही पुस्तकालय बना। हरिराम नागर जी के निर्देशन में कुँवरजी ने इसी पुस्तकालय को केन्द्र बनाकर नाट्यचर्चा की शुरुआत की और अपने पहले नाटक 'दुनिया से दूर' में अभिनय किया। बाद में हरिश्चन्द्र कॉलेज और बीएचयू में अध्ययन के दौरान कुँवरजी ने शहर के रंगमंच की दुनिया में अपनी जगह बना ली। और बनारस ही नहीं, देश के अन्य हिस्सों में भी अन्तर्विश्वविद्यालयी प्रतियोगिताओं में बीएचयू का प्रतिनिधित्व करते हुए अपनी छाप छोड़ी। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) की स्थापना के साथ ही, कुँवरजी लगातार उससे जुड़े रहे और वहाँ पढ़ने के लिए उनका चयन भी हुआ, लेकिन कुछ वजहों से वह कभी एनएसडी के छात्र नहीं बन सके। परन्तु कुँवरजी अपने नाटकों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान के लिए कभी किसी औपचारिक कक्षा के मोहताज नहीं रहे। 1950 के दशक में कुँवरजी ने बनारस में 'अभिनव नाट्य संस्था' नाम की एक संस्था का गठन किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान ही कुँवरजी ने देश भर में अपनी नाट्यप्रतिभा का लोहा मनवाना शुरू कर दिया था और प्रथम अन्तरविश्वविद्यालय युवा महोत्सव में बीएचयू का प्रतिनिधित्व भी किया था। नाट्यकर्म के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ही थी कि उन्होंने वह स्थान खोज निकाला जहाँ पर बनारस में पहली नाट्य प्रस्तुति हुई थी। 'नव संस्कृति संगम', 'श्रीनाट्यम' और 'रंगवेध' जैसी संस्थाओं को भी कुँवरजी ने अपनी प्रतिभा से समृद्ध किया। साथ ही डीज़ल रेलवे कॉलोनी के नाट्यप्रेमी भी लगातार कुँवरजी के साथ जुड़े रहे और कुँवरजी के नेतृत्व में उन्होंने भी कई नाटकों की प्रस्तुति दी। 'भारतीय नाट्य प्रयोगशाला' नाम की संस्था के ज़रिये कुँवरजी ने नाटक के क्षेत्र में बहुत से सफ़ल प्रयोग किये। कुँवरजी के जीवनकाल की विभिन्न उपलब्धियों में एक बड़ी उपलब्धि यह रही कि उन्होंने प्रेमचन्द के नाटक 'प्रेम की वेदी' की पहली प्रस्तुति दी। हालाँकि जीवन के अन्तिम कुछ दशकों में प्रस्तुति के स्तर पर कुँवरजी की सक्रियता कुछ कम हुई थी, लेकिन नाट्यचिन्तक और समीक्षक के रूप में उनकी भूमिका निरन्तर ज़ारी थी। उनके द्वारा निर्देशित और मंचित प्रमुख नाटकों में गिरीश कारनाड का 'हयवदन', विजय तेन्दुलकर का 'अमीर', मौलियर का नाटक 'कंजूस', शंकर शेष का नाटक 'पोस्टर' जैसे नाटक शामिल हैं। बनारस के बंगाली टोला स्थित स्कूल में 'जुलूस' नाटक के माध्यम से किया गया उनका प्रयोग बहुत चर्चित रहा। साथ ही भारतेन्दु के नाटकों को लेकर भी कुँवरजी ने विभिन्न प्रयोग किये। विभिन्न प्रकाशनों से कुँवरजी की छः पुस्तकें प्रकाशित हुईं – 'रंगमंच : एक माध्यम', 'पाँच लघु नाटक', 'आधुनिक नाट्य और नाटक', 'नाट्ययुग',

'आधुनिक नाटक का अन्वेषण : कुछ पश्चिमी दस्तावेज़', 'काशी का रंगपरिवेश'। कुँवरजी ने नाट्यवसुधा प्रकाशन की भी स्थापना की थी।

अपनी जीविका के लिए कुँवरजी ने हरिश्चन्द्र कॉलेज में कुछ समय तक अस्थायी अध्यापक के तौर पर पढ़ाया। बाद में बीएचयू के दृश्य कला विभाग और लगभग एक दशक तक एनएसडी में पढ़ाते रहे। कुँवरजी ने न केवल दूसरे विद्यार्थियों को, बल्कि अपने परिवार को भी नाट्यकर्म और प्रगतिशील मूल्यों की तरफ़ प्रेरित किया। कुँवरजी के पुत्र आलोक और पुत्री अंजलि ने भी कई नाटकों में भागीदारी की थी।

कुँवरजी नाटकों को सामाजिक परिवर्तन में प्रयोग किये जा सकने वाले एक साधन के रूप में देखते थे। उनकी नज़र में नाटक जनता को जागृत करने वाला एक माध्यम था। कुँवरजी स्वयं ब्रेख्त के नाट्यसिद्धान्तों से बहुत प्रभावित थे। वे अक्सर बहुत पहले राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में ब्रेख्त के नाटक 'थ्री पेनी ऑपेरा' की प्रस्तुति का ज़िक्र करते थे, जिसके सामाजिक और मानवीय पक्ष ने उन्हें बहुत गहराई से प्रभावित किया था। कुँवरजी बताया करते थे कि इस नाटक ने उनके आगे के नाट्यचिन्तन पर बहुत असर डाला। साथ ही कम्युनिज़्म के सिद्धान्तों ने भी कुँवरजी के जीवन पर बहुत गहरा असर डाला था। अपने जीवन के अन्तिम समय तक वे इन सिद्धान्तों को अपने जीवन में लागू करते रहे और हमेशा ही किसी भी तरह के उसूली समझौते के ख़िलाफ़ रहे। सोवियत संघ से आने वाले साहित्य ने कुँवरजी के विचारों को बहुत अधिक प्रभावित किया था। सोवियत संघ द्वारा विभिन्न देशों में भेजी जाने वाली किताबें जहाँ भी उन्हें दिखती थीं, वे उसे एकत्र करते रहते थे। जैसा कि उनकी पुत्री अंजलि ने बताया – किताबों ने ही कुँवरजी को वह बनाया, जो वे थे। सोवियत संघ के विघटन के बाद भी समाजवाद के सिद्धान्तों पर उनका भरोसा क़ायम था और वह समाजवाद की उपलब्धियों पर हमेशा चर्चा करते थे तथा नयी पीढ़ी के युवाओं को उनसे परिचित कराते रहते थे। काफ़ी उम्र होने के बाद भी इलाहाबाद में 'अरविन्द स्मृति न्यास' की ओर से 'समाजवादी संक्रमण की समस्याएँ' विषय पर आयोजित पाँच दिवसीय लम्बे सेमिनार में उन्होंने सक्रिय भागीदारी की। कुँवर जी के जीवन और कार्यों पर और अधिक विस्तार से उनकी भतीजी डॉ. अर्चना अग्रवाल द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'काशी के रंग कुवँरजी के संग' में पढ़ा जा सकता है।

कुँवरजी के साथ 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' पत्रिका से जुड़े साथी लगातार बने रहे। अपनी स्वास्थ्य सम्बन्धी सीमाओं के बीच भी कुँवरजी अपनी तमाम अप्रकाशित-प्रकाशित रचनाओं को सम्पादित कर युवाओं के बीच प्रस्तुत करने के लिए 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' पत्रिका से जुड़े साथियों के साथ योजनाओं पर चर्चा करते रहते थे।

कोई भी समझदार पीढ़ी अपनी विरासत को सम्हालकर रखती है और उसे आगे विकसित करती है। कुँवरजी की जनपक्षधर रंगकर्म की विरासत हमारी धरोहर है। इस विरासत को आगे ले जाना हमारी ज़िम्मेदारी भी है और हमारा संकल्प भी!

(पेज 51 से जारी)

लेकिन दूसरी तरफ़ यह फ़ासिस्टों का डर ही है कि ये गुजरात 2002 की हिंसा में अपनी भूमिका को इतिहास से मिटा देना चाहते हैं।

आल्ट न्यूज़ के सहसंस्थापक मोहम्मद ज़ुबैर को उनके चार साल पुराने ट्वीट पर एक फ़र्ज़ी आईडी से शिकायत के आधार पर धार्मिक भावनाएँ आहत करने का आरोप लगाकर गिरफ़्तार कर लिया गया। मोहम्मद ज़ुबैर एक छोटी टीम के साथ मिलकर, आईटी सेल और व्हाट्सएप यूनिवर्सिटी के ज़रिये फैलायी गयी तमाम फ़र्ज़ी ख़बरों और वीडियो की सच्चाई को लोगों के सामने ले जा रहे थे। सच्चाई से फ़ासिस्टों को सबसे ज़्यादा दिक़्क़त है। इनके आकाओं ने इन्हें पहले ही सचेत कर दिया था कि एक झूठ को सौ बार बोलो तो सच लगने लगता है। मीडिया इनके नियन्त्रण में है, सोशल मीडिया पर इनका पहरा है, न्यायपालिका इनकी भाषा बोल रही है, सारे शिक्षण संस्थानों में ये अपने लोगों को बैठा रहे हैं, सिलेबस तक में लम्बे अरसे से बदलाव जारी है ताकि इनके कुकर्म छिप जायें। लेकिन फिर भी ये जानते हैं कि ये किले अभेद्य नहीं हैं। इसलिए ये सच को लोगों तक पहुँचने से रोकना चाहते हैं और जो लोग भी तमाम जोख़िम के बावजूद इस काम में लगे हैं, उनको ये किसी भी तरह से अपने रास्ते से हटा रहे हैं। वरवर राव, सुधा भारद्वाज, वर्नोन गोंजाल्विस, गौतम नवलखा, आनन्द तेलतुम्बडे, अरुण फरेरा आदि की एक लम्बी लिस्ट है जिन्होंने फ़ासिस्ट राज की नाफ़रमानी की, चुप्पी साधने से इनकार किया, वो बिना किसी पुख़्ता सबूत के सलाख़ों के पीछे हैं।

इस फ़ासिस्ट राज में जनपक्षधर मीडियाकर्मी, बुद्धिजीवी, सामाजिक कार्यकर्ता, कवि-लेखक और जो भी आम जनता के पक्ष में खड़ा है तथा मानवाधिकारों के लिए आवाज़ बुलन्द कर रहा है, वो फ़ासिस्टों की नज़र में है, उन पर लगातार हमले जारी हैं। जो बचे हैं, उन पर हमले की तैयारी हो रही है। इन हमलों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध बहुत सीमित है। हमें इस सवाल पर गहराई से सोचने की ज़रूरत है कि क्या इस फ़ासीवादी निज़ाम में कुछ याचिकाएँ दायर करके, हस्ताक्षर अभियान, प्रतीकात्मक धरना प्रदर्शन से, जाँच टीम बनाकर जनवादी अधिकारों को बचाने की लड़ाई लड़ी जा सकती है?

आज जनवादी अधिकार आन्दोलन को व्यापक सामाजिक आधार वाला जनान्दोलन बनाने की ज़रुरत है। आम लोगों को उनके जनवादी अधिकारों के प्रति सचेत और जागरूक बनाना तथा अपने जनवादी अधिकारों की हिफ़ाजत और विस्तार के लिए उन्हें संगठित करने के काम को आज हमें अपने बुनियादी कामों में शामिल करना होगा।

●

रेलवे-एनटीपीसी परीक्षा के परिणामों में हुई धाँधली के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन

रेलवे-एनटीपीसी परीक्षा के परिणामों में हुई धाँधली के ख़िलाफ़ उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान समेत देश के विभिन्न हिस्सों में छात्रों-नौजवानों ने सड़क पर उतर कर विरोध प्रदर्शन किया। ग़ौरतलब है कि रेलवे-एनटीपीसी की परीक्षा के पहले चरण का परिणाम आने पर जहाँ खाली पदों की तुलना में लगभग 7 से 8 गुना छात्रों को शॉर्टलिस्ट किया जाना था, लेकिन जनवरी 2022 में जब परिणाम घोषित किया गया तो प्रशासन ने लगभग आधी संख्या में छात्रों को शॉर्टलिस्ट करके बहुत से छात्रों से दूसरी परीक्षा में शामिल होने का अवसर छीन लिया। इसके ख़िलाफ़ जब छात्र-युवा सड़कों पर उतरे तो हर जगह भयंकर दमन का सामना करना पड़ा। दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ताओं ने पुलिसिया दमन के ख़िलाफ़ और छात्रों की माँगों के पक्ष में जगह-जगह विरोध प्रदर्शन किया सामूहिक प्रदर्शनों में भागीदारी की।

महाराष्ट्र में बुलन्द हो रही है स्त्री-मुक्ति की ललकार

पिछले दिनों महाराष्ट्र में स्त्री मुक्ति लीग का गठन किया गया। मई-जून के महीने में पुणे शहर में कई जगहों पर स्त्री-प्रश्न के सन्दर्भ में बनी पोस्टर प्रदर्शनी को लेकर सामान्य नागरिकों, युवाओं में अभियान चलाया गया और आज महिलाओं पर हो रहे अत्याचार की जड़ में पूँजीवादी संस्कृति की भूमिका पर बातचीत की गयी।

मज़दूर दिवस, 1 मई के उपलक्ष्य में महिला मज़दूरों की स्थिति पर नुक्कड़ नाटक "एक स्त्री मज़दूर की कहानी" का मराठी मे ("एका कष्टकरी बाईची कहाणी") मंचन किया गया और शहर के कई हिस्सों मे दो सप्ताह तक इसे लेकर अभियान चलाया गया। नाटक को मेहनतकश वर्गों के स्त्री-पुरुषों के बीच काफ़ी सराहा गया। इसके साथ ही स्त्री-प्रश्न से जुड़े हुए विभिन्न आयामों पर, महिलाओं से जुड़े हुए कई मुद्दों पर प्रकाशित लेख लेकर बातचीत का सिलसिला शुरू किया गया और सामूहिक अध्ययन मण्डल संगठित किये गये। इसमें कई युवाओं ने और मज़दूर वर्गीय महिलाओं ने शिरकत की। मुम्बई के मानखुर्द इलाके में मेहनतकश आबादी के बीच 'मिर्च-मसाला' फ़िल्म का प्रदर्शन और चर्चा का आयोजन किया गया।

हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने देहविक्रय के धन्धे को क़ानूनी ज़ामा पहनाने के बारे मे दिये गये जजमेंट को लेकर मराठी मे एक ऑनलाइन चर्चा सत्र आयोजित किया गया। जिसमें बड़ी संख्या में लोगों ने हिस्सा लिया।

फ़ीस बढ़ोत्तरी के ख़िलाफ़ मदवि, रोहतक के छात्रों का संघर्ष रंग लाया!

संयुक्त छात्र संघर्ष समिति के नेतृत्व में महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के छात्र विगत 24 मार्च से फ़ीस बढ़ोत्तरी के ख़िलाफ़ संघर्षरत थे। 25 अप्रैल से छात्रों का दिन-रात का धरना भी निरन्तर जारी था। इस दौरान छात्रों ने भयंकर लू, गर्मी और प्रशासन की हठधर्मिता का बहादुरी से मुक़ाबला किया। अन्ततः 6 मई को सम्पन्न हुई कार्यकारिणी परिषद की बैठक में विश्वविद्यालय प्रशासन को झुकना पड़ा और छात्रों के हित में फ़ैसला देना पड़ा। मदवि प्रशासन के द्वारा फ़ीस घटाने के बारे में लिखित मिनट्स जारी करने के बाद छात्रों ने आन्दोलन वापस लिया। संयुक्त छात्र संघर्ष समिति के बैनर तले महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय में नाजायज़ फ़ीस बढ़ोत्तरी के ख़िलाफ़ 15 दिन से चल रहा धरना औपचारिक तौर पर 10 मई को स्थगित कर दिया गया। छात्रों ने सभा बुलाकर आगामी संघर्षों के संकल्प के साथ अपने मौजूदा संघर्ष को विराम दिया। दिशा छात्र संगठन की मदवि इकाई भी फ़ीस वृद्धि विरोधी संघर्ष में शुरू से अन्त तक डटी रही!

दिशा छात्र संगठन के इन्द्रजीत ने कहा कि फ़ीस बढ़ोत्तरी को वापस लिया जाना बेशक मदवि के छात्रों की बड़ी जीत है। लेकिन हमें इसी से सन्तुष्ट होकर हाथ पर हाथ धरके बैठ नहीं जाना चाहिए। आपको ज्ञात हो कि मदवि समेत हरियाणा भर के तमाम विश्वविद्यालयों का अनुदान बन्द करके राज्य सरकार अब इन्हें ऋण देने का फ़ैसला ले चुकी है। मदवि को ही 8 प्रतिशत की ब्याज़ दर के साथ तक़रीबन 24 करोड़ का क़र्ज़ इसी सत्र से देने की बात की गयी है। इससे फ़ीस में फ़िर से वृद्धि होगी और आम घरों के बेटे-बेटियों के लिए शिक्षा के दरवाज़े बन्द कर दिये जायेंगे।

उत्तर प्रदेश दरोगा भर्ती में हुई धाँधली के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन

उत्तर प्रदेश में पिछले साल नवम्बर में हुई दरोगा भर्ती की लिखित परीक्षा में शासन, प्रशासन, परीक्षा नियन्त्रक और सॉल्वर गैंग की मिलीभगत से जम के धाँधली की गयी। यूपीएसआई के लगभग साढ़े नौ हज़ार पदों के लिए ऑनलाइन परीक्षा करायी गयी थी, जिसमें केन्द्र व्यवस्थापकों और प्रशासन की मदद से आईपी एड्रेस को किसी दूसरे सिस्टम से साझा कर बड़े पैमाने पर धाँधली की गयी। इस धाँधली के उजागर होने पर इसके ख़िलाफ़ लखनऊ समेत प्रदेश के विभिन्न जिलों में छात्रों ने आन्दोलन किया जिनका पुलिसिया दमन किया गया।

दिशा छात्र संगठन की तरफ़ से परीक्षा में धाँधली और छात्रों

के दमन के ख़िलाफ़ इलाहाबाद में विरोध प्रदर्शन किया गया। दिशा के कार्यकर्ता ने कहा कि सरकारी विभागों के निजीकरण और इसकी वजह से सिकुड़ते रोज़गार के अवसर, शासन-प्रशासन में पकड़ रखने वाले लोगों के लिए छात्रों के भविष्य का सौदा कर पर्चा लीक और अन्य धाँधली के माध्यम से पैसा कमाने का मौका देते है। ज़ाहिर है कि बिना सत्ताधारियों की शह के इतने बड़े पैमाने पर धाँधली नहीं हो सकती।

'उच्च शिक्षा के मौजूदा हालात और छात्र आन्दोलन की दिशा' विषय पर मदवि रोहतक में दिशा द्वारा परिचर्चा का आयोजन

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के छात्र गतिविधि केन्द्र में 18 मई को दिशा छात्र संगठन के द्वारा 'उच्च शिक्षा के मौजूदा हालात और छात्र आन्दोलन की दिशा' विषय पर परिचर्चा का आयोजन किया गया। अलग-अलग विभागों के काफ़ी विद्यार्थियों ने परिचर्चा में जीवन्त हिस्सेदारी की। परिचर्चा में फ़ीस वृद्धि विरोधी आन्दोलन की समीक्षा, उच्च शिक्षा के हालात और छात्र आन्दोलन की दिशा पर बातचीत हुई।

अमर सेनानी भगवतीचरण वोहरा के शहादत दिवस के मौक़े पर परिचर्चा का आयोजन

महान क्रान्तिकारी भगवतीचरण वोहरा के शहादत दिवस के मौक़े पर दिशा छात्र संगठन के द्वारा मदवि के छात्र गतिविधि केन्द्र में " 'एचएसआरए' की विरासत और आज का भारत" विषय पर परिचर्चा का आयोजन किया गया। दिशा के इन्द्रजीत ने कहा कि शहीद भगवतीचरण आज़ादी आन्दोलन की समझौताविहीन संघर्ष की क्रान्तिकारी धारा के नायक थे। आप नौजवान भारत सभा के संस्थापक सदस्य थे, हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातान्त्रिक संघ (HSRA) बनाने में आपका अहम योगदान था। भगतसिंह, सुखदेव, बटुकेश्वर दत्त और विजय कुमार सिन्हा की ही तरह भगवतीचरण वोहरा भी एक गम्भीर अध्ययनशील क्रान्तिकारी थे और अध्ययन ने उन्हें समाजवाद का पुरजोर समर्थक बना दिया था। एचएसआरए का घोषणापत्र तैयार करने में और क्रान्ति का लक्ष्य समाजवादी गणराज्य की स्थापना तय करने में शहीद भगवतीचरण वोहरा की भी अहम भूमिका थी।

'एमडीयू रोहतक' में 'ओपन माइक' के तहत "हमारे तराने" कार्यक्रम का आयोजन!

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक के 'रोज़ गार्डन' में दिशा छात्र संगठन और प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स लीग की ओर से 'ओपन माइक' के तहत "हमारे तराने" कार्यक्रम का आयोजन किया गया। मंच संचालन प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स लीग की सोनिका सवेरा ने किया। दिशा के इन्द्रजीत ने कला की सामाजिक भूमिका पर बात रखी। विश्वविद्यालय के काफ़ी सारे विद्यार्थियों ने इस सांस्कृतिक कार्यक्रम में भागीदारी की और अपनी रचनाएँ पेश की। शहर के भी कई गणमान्य संस्कृतिकर्मियों ने "हमारे तराने" में सक्रिय तौर पर शिरकत की।

मदवि रोहतक में 'बढ़ते मानसिक तनाव और अवसाद से छात्र-युवा कैसे बचें?' विषय पर परिचर्चा का आयोजन

दिशा छात्र संगठन द्वारा महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय (रोहतक) में 'युवाओं में बढ़ता मानसिक तनाव और अवसाद: इससे कैसे बचें?' विषय पर परिचर्चा का आयोजन किया गया। कार्यक्रम विश्वविद्यालय की जोशी कैण्टीन पर हुआ। परिचर्चा में बहुत से छात्र-छात्राओं ने भागीदारी कर अपने विचार साझा किये। वक्ताओं ने कहा कि हमें अपने आसपास के लोगों पर ध्यान देना चाहिए और कोई भी व्यक्ति यदि तनाव ग्रस्त दिखे तो उसकी मदद करनी चाहिए। इसके अलावा हमें किसी न किसी कलात्मक और सर्जनात्मक गतिविधि में खुद को सक्रिय करना चाहिए। ख़ासतौर पर साहित्य और ज्ञान-विज्ञान हासिल करना चाहिए और अपना वैचारिक दायरा बढ़ाना चाहिए। हम अधिक से अधिक सामाजिक होकर और सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में खुद को सक्रिय करके ही मानसिक तनाव और अवसाद से बच सकते हैं। तनाव और अवसाद की जकड़ में होने पर तत्काल चिकित्सकीय परामर्श भी अवश्य लेना चाहिए।

तीस्ता सीतलवाड़ की गिरफ़्तारी का देशव्यापी विरोध

मानवाधिकार कार्यकर्ता और गुजरात दंगों के पीड़ितों का साथ देने वाली तीस्ता सीतलवाड़, और गुजरात में मोदीराज की मुख़ालफ़त करने वाले प्रशासनिक अधिकारी श्री आरबी श्रीवास्तव की गिरफ़्तारी के ख़िलाफ़ उत्तर प्रदेश, दिल्ली, मुम्बई और बिहार में हुए विरोध प्रर्दशनों में दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा ने भागीदारी की। दिशा और नौभास के कार्यकर्ताओं ने कहा कि फ़ासीवादी मोदी सरकार के सत्ता में आने के साथ ही विरोध की हर आवाज़ को दबाने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह बदस्तूर जारी है। सामाजिक कार्यकर्ताओं, पत्रकारों जनपक्षधर लेखकों साहित्यकारों पर होने वाले इन हमलों के ख़िलाफ़ व्यापक जन लामबन्दी क़ायम करने की ज़रूरत है।

इलाहाबाद और गोरखपुर विश्वविद्यालय में हुई फ़ीस वृद्धि के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन

प्रेमचन्द ने कहा था – "किराये की तालीम हमें बर्बाद कर देगी, शिक्षा समाज की रीढ़ होती है। ऊँची से ऊँची तालीम मुफ़्त होनी चाहिए। देश को फ़ौज से ज़्यादा शिक्षा की जरूरत है।" लेकिन आज हमारे देश में उल्टी बयार बह रही है। नयी शिक्षा नीति आने के साथ ही देश भर के विश्वविद्यालयों-कॉलेजों में इसका प्रभाव दिखने लगा है। इसी क्रम में इलाहाबाद और गोरखपुर विश्वविद्यालय प्रशासन ने छात्र हितों को ताक पर रखकर फ़ीस वृद्धि कर दी है। इविवि में नये सत्र में प्रवेश लेने वाले छात्रों के लिए 400 प्रतिशत फ़ीस वृद्धि का तुगलकी फ़रमान जारी किया है। इविवि में दिशा छात्र संगठन ने विरोध प्रदर्शन करके प्रॉक्टर के माध्यम से कुलपति को ज्ञापन सौंपा और फ़ीस वृद्धि वापस लेने की माँग की। दिशा छात्र संगठन द्वारा विश्वविद्यालय में फ़ीस वृद्धि के ख़िलाफ़ हस्ताक्षर अभियान भी चलाया जा रहा है। विश्वविद्यालय के वार्षिक कैलेण्डर में फ़ोटो के नाम पर लाखों रुपये का वारा-न्यारा करने वाला प्रशासन बेशर्मी से तर्क दे रहा है कि विश्वविद्यालय वित्तीय संसाधनों की कमी से जूझ रहा है। लेकिन सच्चाई यह हैं कि बेतहाशा फ़ीस वृद्धि और कुछ नहीं बल्कि सार्वजनिक शिक्षण संस्थानों का चोर दरवाजे से निजीकरण की दिशा में बढ़ा हुआ एक क़दम है। फ़ीस वृद्धि के ख़िलाफ़ छात्रों का संयुक्त आन्दोलन अभी भी जारी है।

गोरखपुर में भी दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ताओं ने फ़ीस वृद्धि के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन किया और छात्रों को लामबन्द करके बड़े आन्दोलन की तैयारी की जा रही है।

अग्निपथ योजना के विरोध में देश के विभिन्न हिस्सों में प्रदर्शन और अभियान

मोदी सरकार की फ़ासीवादी अग्निपथ योजना के ख़िलाफ़ दिशा छात्र संगठन व नौजवान भारत सभा की ओर से संयुक्त रूप से दिल्ली, हरियाणा, महाराष्ट्र, बिहार, उत्तर प्रदेश समेत देश के विभिन्न हिस्सों में प्रदर्शन आयोजित किया गया और अभियान चलाकर व्यापक पर्चा वितरण किया किया जा रहा है। बिहार में दिशा छात्र संगठन समेत विभिन्न संगठनों की ओर से संयुक्त मोर्चा बनाकर इसके ख़िलाफ़ संघर्ष शुरु किया गया है।

सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में नौकरी का ठेकाकरण परजीवी वर्गों के हितों की सेवा करने वाली फ़ासीवादी मोदी सरकार का एक और नया क़दम है। देश में बेरोज़गारी रिकार्डतोड़ स्तर पर है। यह योजना जनता के रोज़गार के अधिकार पर एक और हमला है।

नौजवान भारत सभा द्वारा शुरू की गयीं कम्प्यूटर कक्षाएँ

नौजवान भारत सभा, पुणे इकाई की ओर से दाण्डेकर ब्रिज एरिया स्थित शहीद भगतसिंह पुस्तकालय पर पिछले लगभग 2 महीने से स्थानीय छात्रों को शिक्षित प्रशिक्षित करने के लिए कम्प्यूटर कक्षाओं का संचालन किया जा रहा है। इलाक़े में चल रहे ज़्यादातर स्कूलों में कम्प्यूटर की कक्षाएं का संचालन होता ही नहीं है। जिन स्कूलों में इसका संचालन हो रहा है वह आम जनता की पहुँच से दूर है। ऐसे में आम मेहनतकश आबादी से आने वाले छात्रों को बुनियादी कम्प्यूटर शिक्षा देने के मकसद से नौजवान भारत सभा द्वारा इसका संचालन किया जा रहा है।

राहुल फाउण्डेशन की चार महत्वपूर्ण पुस्तकें

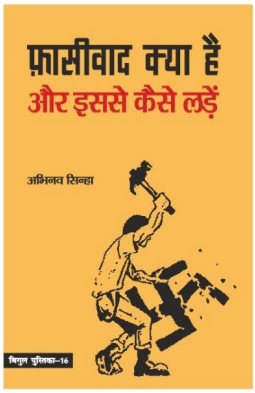

प्रस्तुत पुस्तक फ़ासीवाद के उभार के इतिहास और उसके सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फ़ासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यहाँ फ़ासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।

पृष्ठ : 240, मूल्य : 120 रुपये

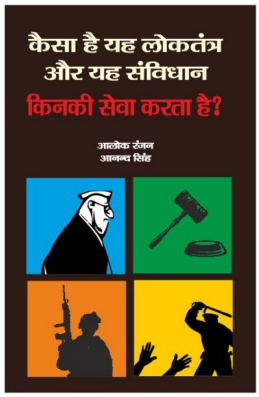

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति-सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के खतरों के बारे में एक विचारोत्तेजक, शोधपूर्ण, आँखें खोल देने वाली पुस्तक।

पृष्ठ : 200, मूल्य : 150 रुपये

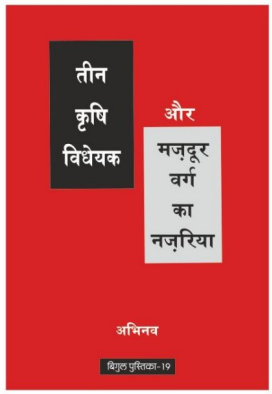

आनन-फ़ानन में लाये गये इन कृषि क़ानूनों से किसे लाभ होगा, किसे नुक़सान होगा? मौजूदा किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र क्या है? वे कौन से मुद्दे हैं जिन्हें लेकर मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों को इन क़ानूनों का विरोध करना चाहिए? क्या मज़दूर वर्ग इन क़ानूनों के मज़दूर व ग़रीब-विरोधी प्रावधानों का विरोध कृषि क्षेत्र के पूँजीपति वर्ग, यानी धनी किसानों व कुलकों के मंच से कर सकता है? क्या इनके साथ मिलकर कोई फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है? यह पुस्तिका मार्क्सवादी नज़रिए से इन सवालों का विश्लेषण करती है।

पृष्ठ : 60, मूल्य : 40 रुपये

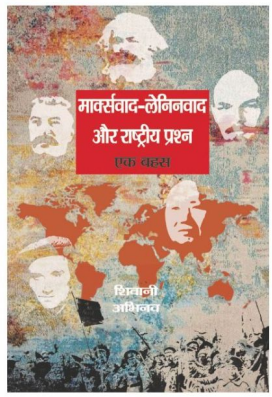

मौजूदा संकलन में शामिल दो लेख 2019-20 में चली एक अहम बहस का हिस्सा हैं। यह बहस हिन्दी पत्रिका 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' और पंजाबी पत्रिकाओं 'प्रतिबद्ध' और 'ललकार' के बीच चली थी। मौजूदा पुस्तक में दो लेख हैं। पहला लेख प्रमुख सैद्धान्तिक लेख है जो 'प्रतिबद्ध' और 'ललकार' की राष्ट्रीय प्रश्न पर अवस्थिति के गैर-मार्क्सवादी और ऑस्ट्रो-मार्क्सवादी, बुण्डवादी व त्रात्स्कीपन्थी तथा राष्ट्रीय शावनवादी व भाषाई अस्मितावादी अवस्थिति की विस्तृत आलोचना पेश करता है। दूसरे लेख में सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में 'प्रतिबद्ध' व 'ललकार' द्वारा पेश अज्ञानतापूर्ण विचारों का खण्डन पेश किया गया है।

पृष्ठः 220, मूल्यः 150

पुस्तकें मँगाने और सम्पूर्ण पुस्तक सूची देखने के लिए हमारे मुख्य वितरक से सम्पर्क

जनचेतना

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546 (व्हॉट्सऐप)

ईमेल : janchetna.books@gmail.com **वेबसाइट :** www.janchetnabooks.org

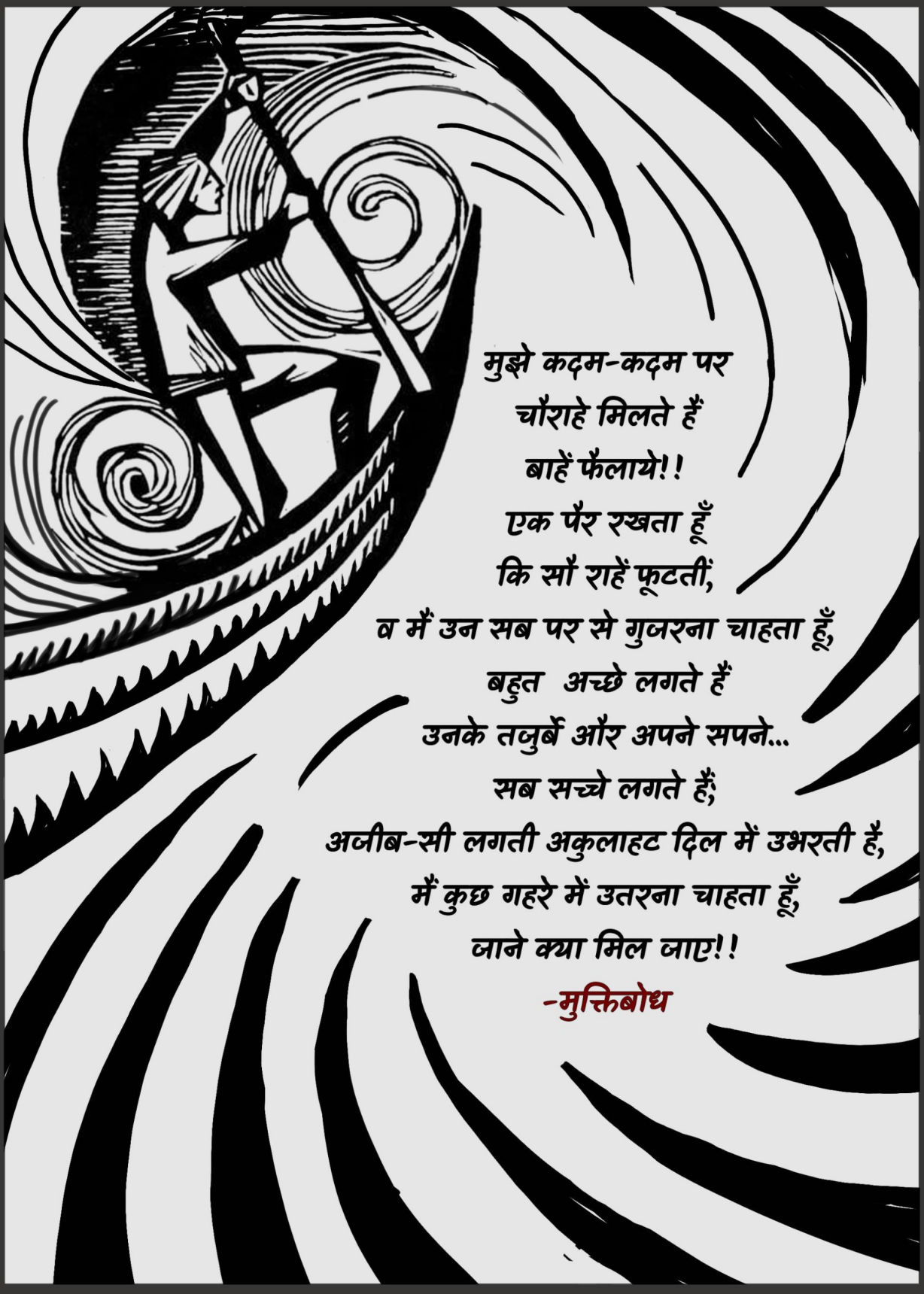

मुझे कदम-कदम पर
चौराहे मिलते हैं
बाहें फैलाये!!
एक पैर रखता हूँ
कि सौ राहें फूटतीं,
व मैं उन सब पर से गुजरना चाहता हूँ,
बहुत अच्छे लगते हैं
उनके तजुर्बे और अपने सपने...
सब सच्चे लगते हैं;
अजीब-सी लगती अकुलाहट दिल में उभरती है,
मैं कुछ गहरे में उतरना चाहता हूँ,
जाने क्या मिल जाए!!

-मुक्तिबोध